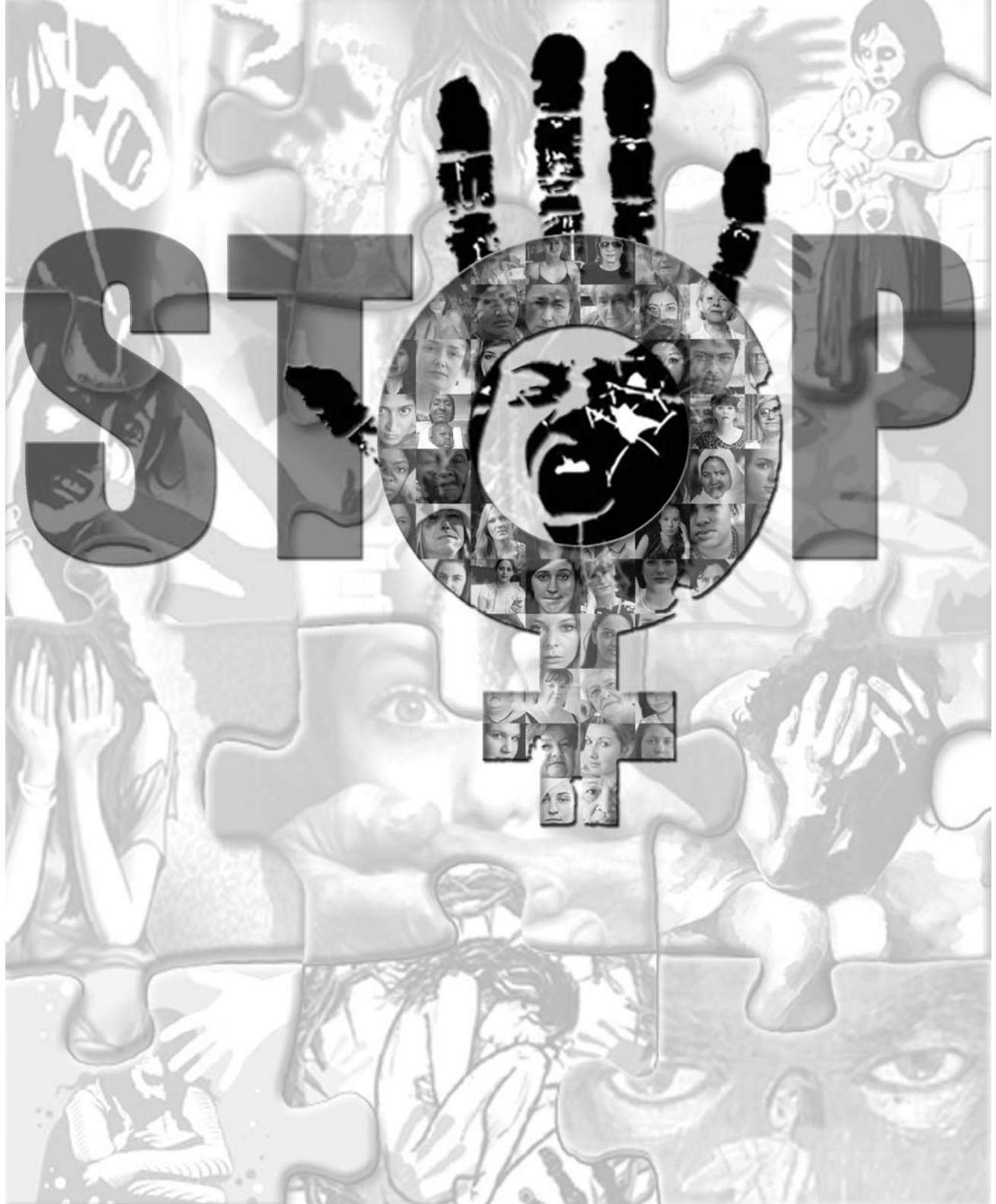


# समरथ



जुलाई-अगस्त 2013 ♦ नई दिल्ली



## नाहि तो जनम नसाई

समरथ के पिछले कुछ अंकों से हम नारीवादी कवियत्रियों और कवियों की कविताएं पेश कर रहे हैं। विषय और भी बहुत हैं और उन विषयों पर लिखी गई असंख्य कविताएं हैं लेकिन फिलहाल इसी मुद्दे पर कविताएं पेश करते रहने के पीछे मंशा यह है कि अचानक मर्दवादी संस्कृति चारों तरफ नग्न रूप में दिखाई दे रही है। महिलाओं के प्रति ऐसी सोच यह प्रदर्शित करती है कि महिला आंदोलन ने जो कुछ कमाया था उस पर सोची-समझी कार्यनीति के ज़रिये पानी फेरा जा रहा है। टेलीविजनों पर चल रहे तमाम सीरियल लगभग इसी सोच को बल दे रहे हैं। पूरे समाज में फैलती ये मानसिकता आज घृणास्पद होते हुए मान्यता प्राप्त कर रही है। बलात्कार की शिकार महिला के लिए चार सौ कोड़ों की सजा सऊदी अरब सुनाता है। गोद ली गई नाबालिग बच्ची के साथ शादी करना जायज ईरान बताता है। काली और दुर्गा की पूजा के पंडालों से परे उन्हीं इलाकों में मासूम बच्चियों के साथ बलात्कार की घटनाएं लगातार पढ़ने को मिल रही हैं। साहिर लुधियानवी ने लिखा था “ये वो बदकिस्मत मां है जो बेटों की सेज पर लेटी है” ये पंक्तियां सन् पचास के दौर में लिखी गई थीं और उसके बाद महिला आंदोलन ने काफी गति पकड़ी थी जिससे पूरे उपमहाद्वीप में महिलाओं की आज़ादी ने केन्द्रियता हासिल कर ली थी लेकिन समय का पहिया उलटा चलने लगा। यूं तो हर कोई नारा देता है कि महिलाओं को पुरुषों की बराबरी मिलनी चाहिए और यह उनका अधिकार है लेकिन बात जब अधिकार मिलने की होती है तो हर तरफ से उन्हीं अधिकारों का हनन होता है। और इन अधिकारों के हनन में सबसे ज्यादा इस्तेमाल होते हैं धार्मिक ग्रंथ जिनके हवाले देकर महिलाओं का उत्पीड़न किया जाता है। लेकिन ये संघर्ष रुकने का नहीं। इसी संघर्ष को बल देती हुई एविटा वेलवेट और माया एंजेलो की यह कविताएं प्रस्तुत हैं।

## मैं वह औरत हूँ

### ■ एविटा वेलवेट

मैं वह औरत हूँ जिसे बर्दाश्त न कर पाओगे  
मैं वह औरत हूँ जुदा जिस से न हो पाओगे  
मैं वह औरत हूँ हिला दे जो दिमागों की रंगें  
मैं वह औरत हूँ जो मजबूर मुहब्बत को करे  
मैं वह औरत हूँ जो इस तरह तुम्हें तड़पा दे  
अपना ही नाम तुम्हें ज़ेहन में भी आ न सके  
तेरी माँ प्यार करे देखे मुझे तारों में  
मैं वह औरत हूँ जो हंसी भर दे तेरे यारों में  
मैं वह औरत हूँ कि जो शब् भर तुम्हें मजबूर करे  
बोलते रहने को हर लम्हा कभी जो कह दे  
मैं वह औरत हूँ जो चाहे तो बदहवास हो तुम  
मैं वह औरत हूँ जो दीवाना बना कर रख दे  
मैं वह औरत हूँ कि जलवों से तुम्हें पिघला दे  
मैं वह औरत हूँ जो हर काम तेरा बिसरा दे  
सारा दिन जिस्म से तुम पीते रहो उसके जाम  
किसी वहशी कि तरह जिस्म पे होकर कुर्बान  
तुमको बेकाबू यूँ कर दे कि तड़प जाओ तुम  
रूह को अपनी ही खुद ढूँढ भी न पाओ तुम  
तुमको मजबूर करे मान लो तुम अपनी शिकस्त  
और उदासी में डुबो दे रहे वह दूर अगर  
मैं वह औरत हूँ जो मिल जाऊँ तो दीवाना बनो  
मेरी रग-रग में समा जाने का परवाना बनो

तुमको मजबूर करूँ बैठे रहो शब् को यूँ ही  
मेरे चेहरे को निहारो मैं जो ख्वाबों में रहूँ  
मैं वह औरत हूँ कि नफ़रत भी करो प्यार भी तुम  
मैं वह औरत हूँ जिसे भूल सको? नामुमकिन

.....

■ माया एंजेलो

## रिमम्बरेंस

तुम्हारे हाथ मेरी जुल्फों पे बेखौफ़ रवां  
शहद की मक्खी की मानिंद बने छत्तों में  
मेरे रुखसार की हर साख्त पे मुस्काते है  
कभी तो जिस्म पे मेरे मचलते जाते हैं  
कभी दमक कभी सरगोशी से इज़हार के साथ  
रहस्य का जाल मेरे तर्कों पे छा जाता है  
बलात्कार का एहसास सा दिलाता है  
जिस घड़ी खुद को और अपने बिखेरे जादू को  
समेट लेते हो अपनी पहल पे मुझसे अलग  
तुम्हारी बू ही फक़त रहती है सीनों के बीच  
उस घड़ी, ठीक उसी वक्त बिना शर्म-ओ-हया  
तेरी मौजूदगी का जीता सा सारा एहसास  
अपने अंदर मैं समां लेती हूँ रख लेती हूँ।

## वह वापस चल दिए घर

वह वापस चल दिए घर  
मेरे बारे अपनी बीवियों को  
कहा मुझ जैसी औरत  
न देखी इस से पहले  
तभी भी

वह वापस चल दिए घर  
कहा मेरा जो घर है  
चमकता आईना है  
मेरे अल्फ़ाज़ में भी  
कोई तल्खी नहीं है  
मुअम्मा जैसी हूँ मैं  
वह वापस चल दिए घर  
ज़बां पर हर पुरुष के  
मेरी तारीफ़ ही थी  
मेरी मुस्कान की भी  
ज़ेहन की और नितम्ब की  
गुज़ारी रात मुझ संग  
कभी कुछ और रातें  
मगर...

(सभी अनुवाद : खुर्शीद अनवर)

# इतिहास के पन्नों से स्याह तारीख

पूरी दुनिया के लिए 6 अगस्त, 1945 एक ऐसा भयावह दिन है जिस दिन युद्ध में एक ऐसे हथियार का इस्तेमाल हुआ जो दशकों बाद विश्व के लिए एक बड़े खतरे के रूप में सिर उठाए खड़ा है। इसी दिन दुनिया में पहली बार परमाणु बम का इस्तेमाल किया गया था।

इसी दिन तत्कालीन राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन के आदेश पर अमरीकी वायुसेना ने जापान के हिरोशिमा पर स्थानीय समयानुसार 8 बजकर 15 मिनट पर 'डनोला गे' कहे जाने वाले एक अमेरिकी विमान बी-29 से परमाणु बम 'लिटिल बॉय' गिराया था। और तीन दिनों बाद 9 अगस्त, 1945 को 11 बजकर 2 मिनट पर नागासाकी शहर पर 'फैट मैन' परमाणु बम गिराया गया। जिसने जापान के इन दोनों शहरों को पल भर के अंदर खाक में मिला दिया था। हिरोशिमा पर गिराए गए परमाणु बम को अमेरिकी राष्ट्रपति रुज़वेल्ट के संदर्भ में 'लिटिल बॉय' और नागासाकी पर गिराए गए बम को ब्रिटिश प्रधानमंत्री विस्टन चर्चिल के संदर्भ में 'फैट मैन' कहा गया।

यह मानवजाति के इतिहास में परमाणु हथियारों का सबसे पहला प्रयोग था। यह परमाणु बम सैन्य दस्तों और सैन्य अड्डों पर नहीं बल्कि रिहायशी कस्बों पर गिराए गए थे। असल में इस परमाणु बमबारी का कोई सैन्य महत्व नहीं था। इन शहरों में हथियार बनाने वाले कारखाने मौजूद नहीं थे। न ही वहां कोई बड़ा सैन्य जमावड़ा था। अमरीका दरअसल यह दिखाना चाहता था कि युद्ध के बाद दुनिया के भाग्य का फैसला कौन करेगा। और इसके लिए उसने लाखों जापानी नागरिकों के जीवन बलिदान कर दिए।

हिरोशिमा में 'लिटिल बॉय' के गिराए जाने के बाद 13 वर्ग किलोमीटर का दायरा पूरी तरह उजाड़ हो गया था और शहर में लगभग 60 प्रतिशत भवन तबाह हो गए थे। शहर की साढ़े तीन लाख की आबादी में से एक लाख चालीस हजार लोग मारे गए थे। इनमें सैनिक और वह लोग भी शामिल थे जो बाद में परमाणु विकिरण की वजह से मारे गए। तीन दिनों के बाद अमरीका ने जापान के दूसरे शहर नागासाकी पर दूसरा परमाणु बम गिराया था जिसमें 74 हजार लोग मारे गए थे। नागासाकी शहर के 6.7 वर्ग किलोमीटर में तबाही फैली थी।



## वहाबियत की असलियत

■ डॉ. खुशीद अनवर

हालांकि पहले भी आतंकवाद पर कोई बहस या बातचीत आम जन के दिमाग को सीधे इस्लाम की तरफ खींच ले जाती थी। लेकिन विश्व व्यापार केंद्र पर हमले और उसके बाद दो नारों 'आतंकवाद के खिलाफ जंग' और 'दो सभ्यताओं के बीच टकराव' ने ऐसी मानसिकता बनाई कि दुनियाभर में आम इंसानों के बीच एक खतरनाक विचार पैठ बनाने लगा कि 'सारे मुसलमान आतंकवादी होते हैं'। कुछ 'नर्मदिल' रियायत बरतते हुए इसे 'हर आतंकवादी मुसलमान होता है' कहने लगे। था तो यह राजनीतिक षड्यंत्र, लेकिन आम लोग हर मुद्दे की तह में जाकर पड़ताल करके समझ बनाएं यह मुमकिन नहीं। मान्यताएं उनमें ठूंसी जाती हैं। जिसे 'इस्लामी आतंकवाद' कहा गया, वह दरअसल है क्या? यह आतंकवाद सचमुच इस्लामी है या कुछ और? अगर इस्लाम ही है तो इसकी जड़ें कहां हैं? इस तथ्य का खुलासा करने के लिए एक शब्द का उल्लेख और उसका आशय समझ कर ही आगे बात की जा सकती है : 'जिहाद'! आखिर जिहाद है क्या? इसकी उत्पत्ति कहां से हुई और आशय क्या था?

जिहाद की कुरान में पहली ही व्याख्या 'जिहाद अल-नफस' यानी खुद की बुराइयों के खिलाफ जंग है। जब ऐसा है तो फिर अचानक वह जिहाद कहां से आया जो इंसानों का, यहां तक कि मासूम बच्चों का खून बहाना इस्लाम का हिस्सा बन गया। दुनिया भर में 'इस्लामी' आतंकवाद खतरा बन मंडराने लगा। पर कहां से आया यह खतरा?

इस्लाम जैसे-जैसे परवान चढ़ा, अन्य धर्मों की तरह इसके भी फिरके बनते गए। एक रूप इस्लाम का शुरू से ही रहा और वह था राजनीतिक इस्लाम। जाहिर है कि सत्ता के लिए न जाने कितनी जंग लड़ी गई और खुद मोहम्मद ने जंग-ए-बदर लड़ी। आसानी से कहा जा सकता है कि यह जंग भी मजहब को विस्तार देने के लिए लड़ी गई। मगर असली उद्देश्य था सत्ता और इस्लामी सत्ता। जंग-ए-बदर में सब कुछ वैसा ही हुआ जैसा किसी जंग में होता है, पर जिहाद की कुरान में दी गई परिभाषा फिर भी जस की तस रही। वर्ष 1299 में राजनीतिक इस्लाम ने पहला बड़ा कदम उठाया और ऑटोमन साम्राज्य या सल्तनत-ए-उस्मानिया की स्थापना हुई। (1299-1922)। आम धारणा कि यह जिहाद के नाम पर हुआ, मात्र मनगढ़ंत है। सत्ता की भूख इसकी मुख्य वजह थी।

जिहाद की नई परिभाषा गद्दी अठारहवीं शताब्दी में मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने, जिसके नाम से इस्लाम ने एक नया मोड़ लिया, जिसमें जिहाद अपने विकृत रूप में सामने आया। नज्त में जन्मे इसी मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब (1703-1792) से चलने वाला सिलसिला आज वहाबी इस्लाम कहलाता है, जो सारी दुनिया

को आग और खून में डुबो देना चाहता है।

मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब के आने से बहुत पहले सूफी सिलसिला मोहब्बत का पैगाम देने और इंसानों को इंसानों से जोड़ने के लिए आ चुका था। इसका प्रसार बहुत तेजी से तुर्की, ईरान, अरब और दक्षिण एशिया में हो चुका था। सूफी सिलसिले से जो कर्मकांड जुड़ गए वह अलग मसला है, मगर हकीकत है कि सूफी सिलसिले ने इस्लाम को बिल्कुल नया आयाम दे दिया और वह संकीर्णता की जंजीरें तोड़ता हुआ इस्लाम की हदें भी पार कर गया।

सल्तनत-ए-उस्मानिया से लेकर फारस और अरब तक सूफी सिलसिलों ने जो दो बेहद महत्वपूर्ण काम अंजाम दिए वे थे गुलाम रखने की परंपरा खत्म करना और स्त्री मुक्ति का द्वार खोलना।

फारस में मौलाना रूमी के अनुयायियों द्वारा मेवलेविया सिलसिले ने तेरहवीं सदी में औरतों के लिए इस सूफी सिलसिले के दरवाजे न सिर्फ खोले बल्कि उनको बराबर का दर्जा दिया। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि सूफियों के संगीतमय वज्दाना नृत्य (सेमा) में पुरुषों और महिलाओं की बराबर की हिस्सेदारी होने लगी। मौलाना रूमी की मुख्य शिष्या फख्रनिसां थी। उनका रुतबा इतना था कि उनके मरने के सात सौ साल बाद मेवलेविया सिलसिले के उस समय के प्रमुख शेख सुलेमान ने अपनी निगरानी में उनका मकबरा बनवाया।

महान सूफी शेख इब्न-अल-अरबी (1165-1240) खुद सूफी खातून फातिमा बिनत-ए-इब्न-अल-मुथन्ना के शागिर्द थे। शेख इब्न-अल-अरबी ने खुद अपने हाथों से फातिमा बिनत-ए-इब्न-अल-मुथन्ना के लिए झोपड़ी तैयार की थी, जिसमें उन्होंने जिंदगी बसर की और वहीं दम तोड़ा।

मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने एक-एक कर इस्लाम में विकसित होती खूबसूरत और प्रगतिशील परंपराओं को ध्वस्त करना शुरू किया और उसे इतना संकीर्ण रूप दे दिया कि उसमें किसी तरह की आजादी, खुलेपन, सहिष्णुता और आपसी मेलजोल की गुंजाइश ही न रहे। कुरान और हदीस से बाहर जो भी है उसको नेस्तनाबूद करने का बीड़ा उसने उठाया। अब तक का इस्लाम कई शाखाओं में बंट चुका था। अहमदिया समुदाय अब्दुल-वहाब के काफी बाद उन्नीसवीं सदी में आया लेकिन शिया, हनफी, मुलायिकी, सफर्ड, जाफरिया, बाकरिया, बशरिया, खुलफिया हंबली, जाहिरी, अशरी, मुन्तजिली, मुर्जिया, मतरुदी, इस्माइली, बोहरा जैसी अनेक आस्थाओं ने इस्लाम के अंदर रहते हुए अपनी अलग पहचान बना ली थी और उनकी पहचान को इस्लामी दायरे में स्वीकृति बाकायदा बनी हुई थी।

इनके अलावा सूफी मत तो दुनिया भर में फैल ही चुका था और अधिकतर पहचानें सूफी मत से रिश्ता भी बनाए हुए थीं।

लेकिन मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब की आमद और प्रभाव ने इन सभी पहचानों पर तलवार उठा ली। 'मुख्तार सीरत-उल-रसूल' नाम से अपनी किताब में खुद मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने लिखा 'जो किसी कब्र, मजार के सामने इबादत करे या अल्लाह के अलावा किसी और से रिश्ता रखे वह मुशरिक (एकेश्वरवाद विरोधी) है और हर मुशरिक का खून बहाना और उसकी संपत्ति हड़पना हलाल और जायज है।'।

यहीं से शुरू हुआ मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब का असली जिहाद, जिसने छह सौ लोगों की एक सेना तैयार की और हर तरफ घोड़े दौड़ा दिए। तमाम तरह की इस्लामी आस्थाओं के लोगों को उसने मौत के घाट उतारना शुरू किया। सिर्फ और सिर्फ अपनी विचारधारा का प्रचार करता रहा और जिसने उसे मानने से इनकार किया उसे मौत मिली और उसकी संपत्ति लूटी गई। मशहूर इस्लामी विचारक जैद इब्न अल-खत्ताब के मकबरे पर उसने निजी तौर पर हमला किया और खुद उसे गिराया। मजारों और सूफी सिलसिले पर हमले का एक नया अध्याय शुरू हुआ। इसी दौरान उसने मोहम्मद इब्ने साद के साथ समझौता किया। मोहम्मद इब्ने साद दरिया का शासक था और धन और सेना दोनों उसके पास थे। दोनों ने मिलकर तलवारों के साथ-साथ आधुनिक असलहों का भी इस्तेमाल शुरू किया। इन दोनों के समझौते से दूरदराज के इलाकों में पहुंच कर अपनी विचारधारा को थोपना और खुलेआम अन्य आस्थाओं को तबाह करना आसान हो गया। अन्य आस्थाओं से जुड़ी तमाम किताबों को जलाना मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब का शौक-सा बन गया। इसके साथ ही उसने एक और धिनौना हुक्म जारी किया और वह यह था कि जितनी सूफी मजारें, मकबरे या कब्रें हैं उन्हें तोड़ कर वहीं मूत्रालय बनाए जाएं।

सऊदी अरब जो कि घोषित रूप से वहाबी आस्था पर आधारित राष्ट्र है, उसने मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब की परंपरा को जारी रखा। बात यहां तक पहुंच गई कि 1952 में बुतपरस्ती का नाम देकर उस पूरी कब्रगाह को समतल बना दिया गया जहां मोहम्मद के पूरे खानदान और साथियों को दफन किया गया था। ऐसा इसलिए किया गया कि लोग जियारत के लिए इन कब्रगाहों पर जाकर मोहम्मद और उनके परिवार को याद करते थे। अक्टूबर 1996 में काबा के एक हिस्से अल्मुकर्रमा को भी इन्हीं कारणों से गिराया गया। काबा के दरवाजे से पूर्व स्थित अल-मुल्लाजम जो कि काबा का यमनी हिस्सा है, उसके खूबसूरत पत्थरों को तोड़ कर वहां प्लाइवुड लगा दिया गया, जिससे कि लोग पत्थरों को चूमें नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर वहाबी इस्लाम के नजदीक यह मूर्तिपूजा हो जाती है। अभी हाल में 'द इंडिपेंडेंट' की एक रिपोर्ट के अनुसार मक्का के पीछे के हिस्से में जिन खंभों पर मोहम्मद की जिंदगी के महत्वपूर्ण हिस्सों को पत्थरों पर नक्काशी करके दर्ज किया गया था, उन खंभों को भी गिरा दिया गया। इन खंभों पर की गई नक्काशी में एक जगह अरबी में यह भी दर्ज था कि मोहम्मद किस तरह से मेराज (इस्लामी मान्यता के अनुसार मुहम्मद का खुदा से मिलने जाना) पर गए।

वहाबियत इस्लाम के पूरे इतिहास, मान्यताओं, परस्पर सौहार्द और पहचानों के सह-अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करता आया है।

एक ही पहचान, एक ही तरह के लोग, एक जैसी किताब और नस्ती शुद्धता का नारा हिटलर ने तो बहुत बाद में दिया, इसकी बुनियाद तो वहाबियत ने उन्नीसवीं शताब्दी में ही इस्लाम के अंदर रख दी थी। अरब से लेकर दक्षिण एशिया तक वहाबियत ने अपनी इस शुद्धता का तांडव बहुत पहले से दिखाना शुरू कर दिया था, लेकिन पिछले कुछ दशकों में इसने अपना धिनौना और क्रूर रूप और भी साफ कर दिया। जहां एक तरफ मेवलेविया सिलसिले ने तेरहवीं सदी में औरतों के लिए सिलसिले के दरवाजे न सिर्फ खोले बल्कि उनको बराबर का दर्जा दिया था, वहीं दूसरी तरफ वहाबी इस्लाम ने औरतों को जिंदा दफन करना शुरू कर दिया। बेपर्दगी के नाम पर औरतों के चेहरों के हिस्से बदनमा करने और औरतों पर व्यभिचार का इल्जाम लगा कर उन पर संगसारी करके मार देने को इस्लामी रवायत बना दिया। वहाबियत पर विश्वास न रखने वाले मुसलमानों को इस्लाम के दायरे से खारिज करके उन्हें सरेआम कत्ल करना जायज और हलाल बताया जाने लगा। यह मात्र इस्लाम के अनुयायियों के साथ सलूक की बात है। अन्य धर्मों पर कुफ्र का इल्जाम लगा कर उन्हें खत्म करना, संपत्ति लूटना, उनकी औरतों को जबर्दस्ती वहाबियत पर धर्मांतरण करवाना इनके लिए एक आम बात बन चुकी है।

वहाबियत या वहाबी इस्लाम लगातार पूरी दुनिया के लिए खतरा बनता जा रहा है। मौत के इन सौदागरों की करतूत को आमतौर पर इस्लामी आतंकवाद का नाम दिया जाता है, जिसकी साजिश वाशिंगटन और लंदन में रची जाती है और कार्यनीति सऊदी अरब से लेकर दक्षिण एशिया तक तैयार की जाती है। अल-कायदा, तालिबान, सिपाह-ए-सहबा, जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन, जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे संगठन इस साजिश को अंजाम देकर लगातार खूनी खेल खेल रहे हैं।

दक्षिण एशिया में वहाबी इस्लाम की जड़ों को मजबूत करने का काम मौलाना मौदूदी ने अंजाम दिया। हकूमत-ए-इलाहिया इसी साजिश का हिस्सा है जिसके तहत गैर-वहाबी आस्थाओं को, चाहे वह इस्लाम के अंदर की आस्थाएं हों या गैर-इस्लामी, जड़ से उखाड़ फेंकने और उनकी जगह एक ऐसा निजाम खड़ा करने की योजना है जिसमें हिटलर जैसा वहाबी परचम लहराया जा सके। किससे छिपा है कि सऊदी अरब का हर कदम अमेरिका की जानकारी में उठता है। क्या अमेरिका को इसका इल्म नहीं कि सऊदी अरब अपने देश से लेकर पाकिस्तान और बांग्लादेश तक इन संगठनों की तमाम तरह से मदद कर रहा है और इसकी छाया हिंदुस्तान पर भी मंडरा रही है।

आज की वहाबी आस्था के पास केवल तलवार और राइफलें नहीं हैं बल्कि इनके हाथों बेहद खतरनाक आधुनिकतम हथियार लग चुके हैं। इनकी नजरें पाकिस्तान में मौजूद परमाणु हथियारों पर भी हैं। आस्था जब पागलपन बन जाए तो वह तमाम हदें पार कर सकती है। जो लोग ईद के दिन मस्जिदों में घुसकर लाशों के अंबार लगा सकते हैं वे मौका मिलने पर क्या कुछ नहीं कर गुजर सकते। वहाबियत का खतरा इस संदर्भ में देखा जाना चाहिए। इस खतरे की चपेट में हर वह शख्स है जो इस दरिंदगी के खिलाफ खड़ा है।

# पाकिस्तानी शब्द गाली नहीं

■ अपूर्वानंद

लखनऊ के बारहवीं कक्षा के एक छात्र आदित्य ठाकुर ने हाल में विदेश मंत्रालय के सचिव को हाल में एक पत्र लिखकर तकलीफ जताई है कि भारत का संचार तंत्र, विशेषकर टेलीविज़न पड़ोसी मुल्कों के खिलाफ नफरत का प्रचार करता है। आदित्य ने यह पत्र 'इंडिया न्यूज़' नामक टी.वी. चैनल के एक कार्यक्रम से दुखी होकर लिखना तय किया। कार्यक्रम पाकिस्तान में पोलियो की बीमारी की समस्या पर केंद्रित था। ऊपरी तौर पर एक गंभीर मसले पर चर्चा करने के लिए बनाए गए इस कार्यक्रम का शीर्षक था, 'लंगड़ा पाकिस्तान'। आदित्य ने लिखा है पूरा कार्यक्रम पाकिस्तान के बारे में प्रचलित 'स्टीरियोटाइप', उसके प्रति अपमानजनक और सनसनीखेज प्रसंगों से भरा पड़ा था। रिपोर्ट लगातार पाकिस्तान को 'दुनिया को तबाह करने के सपने देखने वाला' कह कर संबोधित कर रही थी। 'बम का क्या करोगे पाकिस्तान, खाओगे?' और 'दो बूँद से मत डरो पाकिस्तान' जैसे संवादों से कार्यक्रम की पाकिस्तान के प्रति घृणा जाहिर थी।

आदित्य ने इस कार्यक्रम का खास हवाला देते हुए इस ओर ध्यान दिलाया है कि पाकिस्तान के प्रति यह रवैया प्रायः आम है। हम पड़ोसी मुल्कों से अच्छे रिश्ते तो चाहते हैं लेकिन उनके प्रति घृणा का प्रचार भी लगातार करते रहते हैं। इस नौजवान ने मांग की है कि घृणा के ऐसे प्रचार पर रोक लगाई जाए। हममें से कितने ही लोग इस तरह के कार्यक्रमों से घिन खा कर चैनल बदल देते हैं। आदित्य ने एक जिम्मेदार शहरी का फर्ज निभाते हुए अपनी राय जाहिर करना तय किया। पाकिस्तान के प्रति नफरत का यह एकमात्र उदाहरण नहीं है। भारत में कहीं भी बम धमाका होते ही बिना किसी तहकीकात और सबूत के पाकिस्तान का नाम उसके लिए जिम्मेवार के रूप में लिया जाने लगता है। यह इतना स्वाभाविक हो गया है कि हम कभी इसकी अनैतिकता और बुद्धिहीनता के बारे में सोचते ही नहीं। इस काम में सिर्फ वही चैनल नहीं लगा रहता जिसका नाम आदित्य ने अपने खत में लिया है। अगर वह राजकीय चैनल दूरदर्शन के कार्यक्रम 'पाकिस्तान रिपोर्टर' को देखें तो फिर उन्हें एक खत लिखना पड़ेगा। 'पाकिस्तान रिपोर्टर' का काम ही यह मालूम पड़ता है कि वह दर्शकों को यह बताता

रहे कि पाकिस्तान जाहिलों, दहशतगर्दों से भरा हुआ एक ऐसा मुल्क है जिसके मुकाबले भारत स्वर्ग है। पाकिस्तान के स्टीरियोटाइप बनाने में इस कार्यक्रम की भी खासी भूमिका है। और चूँकि यह राजकीय चैनल है, आदित्य के खत को ध्यान में रखते हुए या तो इसे बंद कर देने या पूरी तरह से बदल देने में सरकार को मुश्किल नहीं होनी चाहिए। लेकिन यह भी भारत की राजकीय प्रसार नीति मालूम पड़ती है कि भारतीयों के मन में पाकिस्तान की नकारात्मक तस्वीर ही रहे।

पाकिस्तान को लेकर यह नफरत आज़ाद भारत की घुड़ी में पड़ी मालूम पड़ती है। इस नफरत का पहला शिकार गांधी थे। नाथूराम गोडसे ने उनकी हत्या की जिम्मेदारी लेते हुए अदालत में जो बयान दिया उससे साफ़ जाहिर है कि वह न सिर्फ़ मुस्लिम समर्थक नीतियों के लिए बल्कि पाकिस्तान के निर्माण के लिए नेहरू के साथ गांधी को बराबरी से उत्तरदायी मानने की वजह से उन्हें दण्डित करना चाहता था। गोडसे के मुताबिक़ चूँकि ऐसा कोई कानूनी रास्ता नहीं था जिससे गांधी को इस जुर्म की सजा दी जा सके, उसने यह हत्या करना तय किया। उसका पक्का यकीन था कि गांधी के दृश्य से हटने के बाद ही सेना मजबूती के साथ पाकिस्तान के इरादों को नाकामयाब कर सकेगी। कहा जाता है कि गोडसे के बयान से अदालत में मौजूद लोग इतने हिल गए थे कि अगर उनसे राय ली जाती तो वे उसे बाइज्जत बरी करने का फैसला सुझाते। आज भी अगर आप इस हत्या के बारे में किसी से पूछें तो सुन सकते हैं कि गांधी ने पाकिस्तान को पचपन करोड़ रूपए देने के लिए भारत सरकार को मजबूर किया जिसकी सजा गोडसे ने उन्हें दी। पाकिस्तानपरस्त गांधी की हत्या इसीलिए कोई मामूली सांसारिक कृत्य न था, वह एक पापात्मा को दिया गया दंड था। इसी कारण एक प्रभावशाली तबके में धार्मिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए इसे गांधी-वध की तरह ही याद किया जाता है। गोडसे को हत्यारा कहने पर बुरा मानने वाले लोग शिक्षा संस्थानों में और राजकीय संस्थानों में उच्च पदों पर आसीन हैं।

गांधी की हत्या इस कारण भी एक असुविधाजनक प्रसंग है जिसे हम उसके सारे सन्दर्भों के साथ याद नहीं

करना चाहते। स्कूली किताबें गांधी को सत्यवादी, ब्रह्मचारी, तपस्वी आदि के रूप में चित्रित करने में ही सुरक्षित अनुभव करती हैं। वे छात्रों को गांधी के राजनीतिक व्यक्तित्व से परिचित नहीं कराना चाहतीं, इसलिए गांधी की हत्या किस कारण की गई, इस पर प्रायः चर्चा नहीं करती। युवाओं को गांधी-मूल्यों में दीक्षित करने के मकसद से अभी हाल में दिल्ली विश्वविद्यालय में एक पूरा पर्चा ही शुरू किया जा रहा है। इसमें छात्रों को गांधी के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंगों से परिचित कराने का दावा किया गया है। उनसे कहा गया है कि इन प्रसंगों से अपने जीवन के समतुल्य अनुभवों की तुलना करें और उन स्थितियों में गांधी द्वारा लिए गए निर्णयों के आलोक में सोचने की कोशिश करें कि वैसी स्थितियों में वे स्वयं क्या करते। शायद गांधी के जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रसंगों में एक उनके जीवन का अंत है। हत्या गोडसे ने की लेकिन एक तरह से गांधी ने उसे इसके लिए आमंत्रित किया और इस मृत्यु का वरण किया। क्या उन पर इस मरणान्तक आक्रमण के पहले और हमले नहीं हो चुके थे और क्या उन्हें नहीं पता था कि मुस्लिम और पाकिस्तान विरोधी उत्तेजना के उस माहौल में किस खतरे में थे? फिर भी उन्होंने उन क्षणों में अपनी मुस्लिम और पाकिस्तान समर्थक छवि को बदलने के लिए कोई वक्तव्य नहीं दिया, अपने रवैये को लेकर कोई सफाई नहीं दी। इसकी कीमत उन्हें अपनी जान देकर चुकानी पड़ी। सबसे बड़ा जीवन मूल्य तो वही होता है जिसके लिए हम अपना जीवन न्यौछावर करने को तैयार हो जाएं। फिर गांधी के इस निर्णय पर विचार करने से संभावित स्नातकों को दूर रखने का शैक्षिक और राजनीतिक आशय क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि हर वह मूल्य जिसके लिए कोई प्राण देने को तैयार हो, वरेण्य है। उस मूल्य की परीक्षा की कसौटियां कुछ और हैं जिन पर चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं।

गांधी की हत्या पाकिस्तान के प्रति घृणा की चरम अभिव्यक्ति कही जा सकती है। लेकिन वह हमारे रोजमर्रा के चालू मुहावरों में पैबस्त है। बचपन से पाखाना को पाकिस्तान सुनता आया हूँ। मुस्लिम बहुल इलाकों को पाकिस्तान या छोटा पाकिस्तान कहने का तो रिवाज हर शहर में है। जिस तरह मृत्युदंड सबसे बड़ा दंड है उसी तरह हर हिन्दुस्तानी के लिए पाकिस्तानी कह दिया जाना सबसे बड़ी गाली और अपमान है। यह हमारे सामाजिक मनोविज्ञान का ऐसा अंग है कि छह-सात साल के बच्चे को भी मालूम है कि किसी से नफरत जाहिर करने का सबसे मारक तरीका उसे पाकिस्तानी कह देना है। जाने कितने किस्से मुसलमान

बच्चों से सुने हैं, जिनमें उन्हें उनके हिन्दू सहपाठियों ने पाकिस्तानी कह कर अपमानित किया।

पाकिस्तानी गाली क्यों हो और हम पाकिस्तानी कहे जाने पर बुरा क्यों मानें? यह प्रश्न स्वाभाविक होना चाहिए पर है नहीं। यह भी कोई नहीं पूछता कि यह संज्ञा है या विशेषण ? एक बरस पहले आशीष नंदी का एक व्याख्यान सुनते हुए मुझे लगा कि पाकिस्तानी कहे जाने से शर्म की जगह दरअसल फख्र का अहसास होना चाहिए। साठ साल के इतिहास में चार बार सेना ने पाकिस्तान के लोकमत को अपदस्थ किया। लेकिन पाकिस्तानी जनता ने सर नहीं झुकाया, घुटने नहीं टेके, वह लड़ती ही रही और हर बार उसने लोकतांत्रिक शासन वापस बहाल किया। फ़ौजी हुकूमत में रहते हुए और इस्लामी कट्टरता के बीच इंसानी जीवट और बहादुरी के अनगिनत किस्से पाकिस्तान से सारे पूर्वाग्रहों के बावजूद छन-छन कर हम तक आते रहते हैं। पाकिस्तानी औरतें हो या नौजवान, पत्रकार हों या शिक्षक, कट्टर इस्लामपंथियों के आगे उनका टिका रहना ही उनकी लोकतांत्रिकता का प्रमाण है। पाकिस्तान की जनता की लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता अधिक दृढ़ है क्योंकि उसने सैन्य शासन को कभी काम्य नहीं माना, इसलिए हर बार उसे बाहर किया। हम एक बार इसकी जांच कर लें कि खुद हमारे भीतर एक तानाशाह की कैसी और कितनी चाह है।

किसी व्यक्ति या कौम के चरित्र की जांच इससे भी की जा सकती है कि उसमें मुहब्बत की कितनी कुव्वत है। पाकिस्तान से लौट कर आए हर हिन्दुस्तानी से यही सुना कि बाहें फैलाकर पाकिस्तानियों ने उनका स्वागत किया, कि उनसे खाने के, कपड़े के, किताब के पैसे दुकानदारों ने लेने से इनकार कर दिया जब उन्हें मालूम हुआ कि वे हिन्दुस्तानी हैं। पाकिस्तान से लौटा हर हिन्दुस्तानी जैसे अपना दिल वहीं छोड़ आया हो! लेकिन क्या ऐसा ही अनुभव भारत से लौटे पाकिस्तानी का है? भारत का पूरा सफर उनके लिए शक की निगाहों से गुजरते हुए, जगह देने से होटलों के इनकार सुनते हुए और इसी तरह की दूसरी जिल्लतों से भरा रहता है। वे अवांछित तत्व की तरह बर्दाश्त भर किए जाते हैं और ऐसा लगता है कि उन्हें वापस धकेला जा रहा है। हर हिन्दुस्तानी एक बार के बाद बार-बार पाकिस्तान जाना चाहता है लेकिन मजबूरी न हो तो शायद ही कोई पाकिस्तानी भारत वापस आना चाहे। इससे पाकिस्तान के बारे में क्या मालूम होता है और भारत की कैसी तस्वीर बनती है? जो मुहब्बत के जज्बे से खाली, राष्ट्रवादी भारतीय हैं आखिर उन्हें पाकिस्तानी शब्द सुहा ही कैसे सकता है?



# मोदी का मिथक और यथार्थ

■ सुभाष गाताडे

संघ के पूर्व सरसंघचालक केएस सुदर्शन, जो अपने अनर्गल बयानों के लिए अधिक सुर्खियां बटोरते रहे, अगर जिंदा होते तो अपने 'उत्तराधिकारी' की एक अहम उपलब्धि को लेकर उनकी पीठ जरूर थपथपाते। याद रहे कि 2005 में दिए अपने एक साक्षात्कार में सुदर्शन ने 'वृद्ध हो चले' अटल और आडवाणी से मुक्त भाजपा की बात की थी, जिसके लिए उन्हें काफी आलोचना झेलनी पड़ी थी। अपने स्वास्थ्य के चलते सार्वजनिक जीवन से अलिप्त अटल और अब जनाब भागवत की शतरंजी चालों से वानप्रस्थ की राह पर निकले आडवाणी को देख कर वे निश्चित ही गदगद होते।

एक अदद मुलाकात दूरगामी संदेशों की वाहक बन जाती है। पिछले दिनों झंडेवालान, दिल्ली स्थित संघ कार्यालय में हुई आडवाणी और मोहन भागवत की मुलाकात पर भी यही बात लागू होती है। कहां तो भाजपा के मामलों में संघ के बढ़ते हस्तक्षेप का प्रतिवाद करने वाले पहले के आडवाणी और कहां अपनी चंद शिकायतें लेकर संघ कार्यालय में नालिश करने पहुंचे अब के आडवाणी। जैसा कि अखबारों की रिपोर्टें बताती हैं कि इस मुलाकात ने आडवाणी की रही-सही उम्मीद पर भी पानी फेर दिया। भाजपा में संघ के आशीर्वाद से हुई मोदी की 'ताजपोशी' के बाद पार्टी के भविष्य को लेकर न उन्हें कोई आश्वासन मिला, न संघ की तरफ से भाजपा के मामलों को देख रहे प्रचारकों को बदलने की उनकी बात मानी गई। इस बैठक का नतीजा यही होगा, यह बात पहले से ही तय थी, क्योंकि भागवत ने अपनी तरफ से इस मुलाकात को कोई अहमियत नहीं दी थी। पत्रकारों से बात करते हुए उन्होंने कहा था कि 'तमाम लोग मुझसे मिलने आते रहते हैं। सुना है, आडवाणी भी आएंगे।'

साफ है कि भारतीय जनता पार्टी और उसकी पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ की सियासत पर कई दशकों से हावी रही वाजपेयी-आडवाणी की जोड़ी अब अतीत के विवरण तक सिमट जाएगी। स्वास्थ्य के चलते वाजपेयी तो पहले से ही रिटायर्ड हैं, अब आडवाणी भी उसी गति को प्राप्त हो जाएंगे, भले वह पूरी तरह स्वस्थ हों।

इस पूरी आपाधापी में इस खेल के असली विजेता की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान गया है, वही जिसने न केवल कोपभवन में पहुंचे आडवाणी को 'सलाह' दी कि, वे अपना इस्तीफा वापस लें, वही जिसने पार्टी के तमाम वरिष्ठ नेताओं की असहमति,

विरोध, नाराजगी को किनारे लगाते हुए मुख्यमंत्री मोदी को अहम जिम्मेदारी सौंपने में अहम भूमिका निभाई, वही जो कई सालों से इस कोशिश में मुब्तिला था कि पार्टी का नियंत्रण उसके विश्वासपात्रों के हाथ में रहे। जिस तरह आडवाणी खेमे के कहे जाने वाले तमाम लोगों ने संघ के सुर में सुर मिलाते हुए नमो वंदना शुरू की, उससे स्पष्ट था कि अपने इस आनुषंगिक संगठन के 'माइक्रोमैनेजमेंट' के काम में प्रचारक जन जब जुट जाएंगे, तो कोई चू-चपड़ नहीं करेगा।

इसमें दो राय नहीं कि मोदी को 'आधिकारिक चेहरा' बनाते वक्त संघ के शीर्षस्थ नेतृत्व ने किसी भी किस्म की असहमति न झेलने की उनकी प्रवृत्ति- जिसके चलते गुजरात में संघ-भाजपा के तमाम वरिष्ठ लोग हाशिये पर चले गए- जैसे तमाम पहलुओं पर सोचा होगा। उन्हें इस बात का भी गुमान रहा होगा कि मोदी के चलते राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के पुराने साथी छिटक सकते हैं और नए साथियों के जुड़ने में दिक्कत आ सकती है।

आक्रामक हिंदुत्व के प्रतीक समझे जा रहे मोदी के पीछे फिलवक्त संघ खड़ा है। संघ परिवार के हिसाब से देखें तो 2001 में केशुभाई पटेल को मुख्यमंत्री पद से हटा कर मोदी को गुजरात का मुख्यमंत्री बनाए जाने के बाद उनकी उपलब्धियां बहुत हैं। कहां तो 2001 के उस उत्तरार्द्ध में भाजपा की सत्ता पर पकड़ ढीली पड़ रही थी, वह कई नगरपालिकाओं के चुनाव हार रही थी और फिर गोधरा कांड के नाम पर प्रायोजित किए गए दंगों ने भाजपा की किस्मत इस कदर चमकाई कि बाकी सभी पार्टियों को लगातार हाशिये पर डाल कर वह जीत की हैट्रिक वहां कायम कर सकी है।

यह अलग बात है कि आजाद भारत में मुसलमानों के सबसे बड़े जनसंहार में राज्य सरकार की संलिप्तता या उस वक्त की उसकी सोची-समझी अकर्मण्यता के चलते देश-विदेश में उसने इतनी बदनामी झेली है कि आज भी पश्चिम के कई अहम मुल्कों में संघ के इस लाड़ले मुख्यमंत्री का प्रवेश वर्जित है।

भाजपा में अटल-आडवाणी दौर की समाप्ति के बाद मोदी युग की शुरुआत की अहमियत महज उसके अल्पसंख्यक-विरोध तक सीमित नहीं है; मोदी का शासन बड़े पूंजीपतियों और कारोबारियों को उपलब्ध कराई जा रही तमाम सेवाओं के लिए भी चर्चित है। तमाम बड़े घरानों को गुजरात में अतिरिक्त फायदा पहुंचाया गया है, जमीन और अन्य संसाधन उनकी सेवा में समर्पित किए गए हैं।

चंद माह पहले आई कैंग की रिपोर्ट ने कॉरपोरेट समूहों पर की गई इसी 'गैर-वाजिब' मेहरबानी के लिए उसकी तीखी आलोचना की थी। अपनी रिपोर्ट में कैंग ने बताया था कि किस तरह राज्य के सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों को कॉरपोरेट क्षेत्र के प्रति मोदी सरकार की दरियादिली के चलते पांच सौ अस्सी करोड़ रुपए का नुकसान उठाना पड़ा। फिर चाहे जमीन देने के नियमों को ठेंगा दिखाते हुए फोर्ड इंडिया और लार्सन एंड टूब्रो को दी गई जमीन हो या दोनों अंबानी बंधुओं, एस्सार स्टील और अडानी पॉवर लिमिटेड जैसी कंपनियों को पहुंचाया गया फायदा हो। कुल मिला कर, मोदी कट्टर हिंदुत्व और बड़ी पूंजी के इस खतरनाक संयोग की नुमाइंदगी करते हैं। और आए दिन 'स्वदेशी' का राग अलापने वाले संघ को निश्चित ही उससे गुरेज नहीं है। दरअसल, विश्लेषकों के मुताबिक मोदी को नंबर वन घोषित करने में कॉरपोरेट घरानों का वरदहस्त होने पर भी नागपुर के 'परिवारजनों' ने गौर किया है।

लेकिन लगता है एक पहलू पर संघ के अग्रणीजनों ने बिल्कुल विचार नहीं किया है, वह है गुजरात के बाहर मोदी के कथित करिश्मे की वास्तविकता। उन्होंने इस बात पर तो गौर ही नहीं किया है कि कॉरपोरेट मीडिया द्वारा पीटे जा रहे तमाम ढोल के बावजूद शेष भारत में संपन्न चुनावों में मोदी का अंततः एक क्षेत्रीय नेता के तौर पर सामने आना। हाल में हुए कर्नाटक चुनावों को ही देखें। वैसे मोदी को जबसे कॉरपोरेट सम्राटों और गुरुआधारी स्वामियों के एक हिस्से ने - जिनमें शामिल सभी किसी-न-किसी विवादों में लिप्त बताए जाते हैं - प्रधानमंत्री पद के लिए सबसे लायक व्यक्ति घोषित किया है, उसके बाद यह पहला मौका था कि उनकी इस कथित लियाकत का इम्तिहान होता। नतीजे स्पष्ट हैं कि वे इस इम्तिहान में बुरी तरह फेल हो गए।

कर्नाटक चुनाव में मोदी की तीन रैली उन इलाकों में रखी गई थी, जो भाजपा के गढ़ माने जाते थे। पहली रैली बंगलुरु में थी, जहां कुल अट्ठाईस सीटें हैं, जिनमें से सत्रह भाजपा ने पिछले चुनाव में जीती थी। वहां वह इस बार दहाई भी पार नहीं हो सकी। दो अन्य सभाएं तटीय कर्नाटक में हुईं, जिनमें से एक उडुपी और दूसरी बेलगाम में हुईं। दक्षिण कन्नड जिले की कुल आठ में से एक भी सीट भाजपा के खाते में नहीं आई और उडुपी की पांच में से भाजपा को महज एक पर कामयाबी मिली यानी तेरह सीटों में से महज एक सीट भाजपा के खाते में। यह थी 'स्टार प्रचारक' की उपलब्धि। दूसरी तरफ, कॉरपोरेट जगत के एक हिस्से या मीडिया का उनके प्रति सम्मोहन देखिए कि कर्नाटक की शिकस्त को किसी ने मोदी की शिकस्त नहीं कहा। कल्पना करें कि अगर उलटा हुआ होता यानी किसी करिश्मे से भाजपा जीत जाती तो वही मीडिया मोदी की ताजपोशी करा देता। यों यह पहली दफा नहीं हुआ कि अपने राज्य के बाहर मोदी चुके हुए कारतूस की तरह नजर आए थे।

जब-जब मोदी गुजरात के बाहर गए या पार्टी ने उन्हें

इसका जिम्मा सौंपा, वे प्रभावहीन साबित हुए। पिछले लोकसभा चुनाव में उन्हें महाराष्ट्र, गोवा, दमन-दीव की जिम्मेदारी दी गई थी; भाजपा को यहां उम्मीद के हिसाब से सफलता नहीं मिली। खुद गुजरात के अंदर 2009 के चुनाव में कांग्रेस की तुलना में भाजपा महज दो सीटों पर आगे थी। मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में- जहां मोदी नहीं गए- गुजरात की तुलना में पार्टी को बेहतर सफलता मिली थी।

पिछले साल हुए उत्तराखंड के चुनाव को भी देखें, जब मोदी ने केंद्रीय नेतृत्व के प्रति अपनी असहमति प्रगट करने के लिए, कोई बहाना बना कर चुनाव में न जाने का निर्णय किया था। मोदी की अनुपस्थिति के बावजूद भाजपा ने कांग्रेस को कांटे की टक्कर दी और वह महज दो सीट से कांग्रेस से पिछड़ गई। ऐसा नहीं कि पांच साल पार्टी की हालत वहां बहुत बेहतर थी। इस अंतराल में उसे तीन बार मुख्यमंत्री बदलने पड़े थे।

जानकार बता सकते हैं कि पिछले कुछ वर्षों में बिहार ने भाजपा को काफी सीटें दिलाई हैं। यहां मोदी चुनाव प्रचार में नहीं गए थे, दरअसल उन्हें बुलाया नहीं गया था। एक तो नीतीश कुमार के मोदी-विरोध को लेकर भाजपा सचेत थी। दूसरे, इन्हीं चुनावों की तैयारी के दौरान खुद सुषमा स्वराज ने यह कह कर सभी को चौंका दिया था कि 'मोदी का मैजिक हर जगह नहीं चलता है।'

इसके बरअक्स 2011 में हुए असम चुनावों में मोदी की मौजूदगी ने पार्टी को नाकामी के नए मुकाम पर पहुंचा दिया था। कहां भाजपा के तत्कालीन अध्यक्ष ने असम में अपने बलबूते सरकार बनाने का सपना देखा था और कहां आलम था कि उसकी सीटें पहले से आधी हो चुकी थीं। यह शायद संघ के एजेंडे का ही प्रभाव था कि असम में ऐसे ही लोगों को चुनाव प्रभारी या स्टार प्रचारक के तौर पर भेजा गया जिनकी छवि उग्र हिंदुत्व की रही है। संघ-भाजपा की पूरी कोशिश थी कि असम में सांप्रदायिक सद्भाव की राजनीति को पलीता लगा दिया जाए ताकि होने वाला धुवीकरण उसके फायदे में रहे। चुनाव में स्टार प्रचारक के तौर पर हिंदुत्व के 'पोस्टर बॉय' नरेंद्र मोदी की झूठी लगाई गई थी, जिन्होंने कई स्थानों पर सभाओं को संबोधित किया था। मोदी की इस विफलता ने 2007 के उत्तर प्रदेश चुनावों की याद ताजा कर दी थी, जिसमें उन्हें स्टार प्रचारक के तौर पर उतारा गया था। याद रहे कि यह वही चुनाव था, जब भाजपा चौथे नंबर पर पहुंच गई थी। जहां मोदी की सभाएं हुई थीं, ऐसे अधिकतर स्थानों पर भाजपा को शिकस्त मिली थी।

गुजरात के बाहर बार-बार चुका हुआ कारतूस साबित हुए मोदी को 2014 के लिए अपना चुनावी चेहरा बना संघ-भाजपा परिवार ने एक बड़ा जुआ खेला है, जिसमें फिर एक बार इस स्वघोषित 'हिंदू हृदय सम्राट' का औंधे मुंह गिरना तय है। भाजपा पर संघ का नियंत्रण मजबूत करके फिलवक्त मुस्करा रहे मोहन भागवत को तब शायद आडवाणी की नालिश याद आएगी।

# चिंता बढ़ते एसिड हमले

■ अंजलि सिन्हा

सरकार ने अदालत की फटकार से बचने के लिए भले ही तेजाब खरीदने के लिए फोटो आईडी जरूरी कर दिया है, लेकिन इसके क्रियान्वयन की कारगर योजना सरकार के पास नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने तेजाब हमलों की घटनाएं रोकने के प्रति सरकार की उदासीनता को रेखांकित करते हुए कहा था कि तेजाब हमलों से रोजाना लोग मर रहे हैं, लेकिन 16 अप्रैल को आश्वासन देने के बावजूद केन्द्र इस बारे में नीति तैयार करने में विफल रहा। जस्टिस आरएम लोढ़ा की अध्यक्षता वाली खंडपीठ को इस बात पर आपत्ति थी कि तेजाब की बिक्री को नियंत्रित करने को लेकर अदालत ने आदेश जारी किया था, मगर इस दिशा में कोई कार्रवाई नहीं हुई। अब सरकार ने इस बारे में दिशा-निर्देश की बात कही है। मालूम हो यह कोई पहली दफा नहीं था जब सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले में हस्तक्षेप किया हो। इसके पहले 6 फरवरी को उसने केन्द्र सरकार को यह आदेश दिया था कि वह छह सप्ताह के अंदर विभिन्न राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के सचिवों की बैठक बुलाकर तेजाब की बिक्री नियंत्रित करने, तेजाब हमलों के शिकार लोगों के उपचार एवं पुनर्वास आदि पर विचार कर समुचित उपाय करे।

न्यायालय दिल्ली में 2006 में तेजाब के हमले में घायल नाबालिग लक्ष्मी द्वारा दायर जनहित याचिका पर सुनवाई कर रहा था। याचिका के मुताबिक दिल्ली में तुगलक रोड के पास तीन युवकों ने उस पर तेजाब फेंका था, जिनमें से एक से उसने शादी से इनकार किया था। हमले में लक्ष्मी का हाथ, चेहरा और शरीर के दूसरे हिस्से झुलस गए थे। लक्ष्मी ने साथ ही साथ जनहित याचिका डाल कर इस मामले में नया कानून बनाने या भारतीय दंड संहिता में उचित संशोधन करने की मांग की है। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि केन्द्र इस मामले पर टालमटोल कर रहा है, क्योंकि यह बात चर्चा में आती रही है कि इसके बेहद गंभीर और क्रूर स्वरूप पर केन्द्र सरकार ने अपनी संवेदनशीलता और प्रतिबद्धता फिर से दर्शाई है। यह बात भी चर्चा में आती रही है कि इस अपराध के लिए सख्त कानून बनने वाला है। तत्कालीन केन्द्रीय गृहसचिव श्रीगोपाल पिंल्लई की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय कमेटी का भी गठन किया गया

था। उसने यह सिफारिश की थी कि इस गंभीर अपराध के लिए 10 साल की जेल तथा 10 लाख का जुर्माना हो सकता है। कमेटी की इस सिफारिश से पहले केन्द्र सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने भी एक योजना की बात कही थी, जिसके तहत तेजाब के कारण झुलस चुके तथा बदसूरत हो चुके चेहरे और शरीर के मुफ्त प्लास्टिक सर्जरी कराने का प्रावधान था। एक बीमा योजना की बात भी कही गई थी। तत्कालीन स्वास्थ्य राज्यमंत्री दिनेश त्रिवेदी की तरफ से यह पहल की गई थी। आखिर ये सभी तैयारियां अधबीच कहां अटकीं, यह विचारणीय मसला है। सरकार आखिर ऐसे मुद्दे पर चुप क्यों हो गई?

कहा जा सकता है कि दहेज हत्या, सती प्रथा, गर्भ जल परीक्षण के जरिए मादा भ्रूण के खात्मे या कन्या शिशुओं की हत्या के रूप में स्त्री को जिस बर्बर किस्म की हिंसा का शिकार होना पड़ता है, उसी में नाम जुड़ गया है एसिड हमलों का। निश्चित ही इस प्रकार के क्रूरतम हमले को हम अलग-थलग करके नहीं देख सकते। हमारे समाज में जितना अधिक स्त्रीद्रोही विचार और माहौल है, उसी की यह परिणति है। अक्सर होता यही है कि ऐसी घटना को अंजाम देने वाले व्यक्ति को मनोरोगी या गुस्सैल स्वभाव का बताते हुए लीपापोती की कोशिश चलती रहती है। इस बात पर गौर करें कि इस प्रकार से बदला लेने की प्रवृत्ति पनपती ही क्यों है? कैसे कोई दूसरों पर किसी भी प्रकार की हिंसा करने का अधिकार समझ लेता है। कई सारे मामलों में शादी या प्रेम से इनकार करने पर पुरुष इस मानसिकता में एसिड फेंकते हैं कि 'तू मेरी नहीं हुई, तो किसी की नहीं होगी', मानो स्त्री उसकी निजी सम्पत्ति हो। यह स्त्री को स्वतंत्र इन्सान न समझ कर भोग की वस्तु समझने का परिणाम है। जरूरत है इस मानसिकता के कारणों को समझ कर उनका उन्मूलन करने की तथा दोषी व्यक्ति पर त्वरित कार्रवाई कर उसे सजा दिलाने की। यह बात रेखांकित करने वाली है कि एसिड हमले की परिघटना सिर्फ भारत तक सीमित नहीं है। भारतीय उपमहाद्वीप के पाकिस्तान, बांग्लादेश जैसे मुल्कों के अलावा आसपास के कई देशों से इस किस्म के समाचार मिलते रहते हैं। एक अध्ययन के मुताबिक पिछले कुछ वर्षों में

शेष पृष्ठ 14 पर

## इमदाद में मिले इमाम

■ डॉ. खुशीद अनवर

पाकिस्तान के वर्तमान प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ ने दिसंबर 2000 से अगस्त 2007 तक सऊदी अरब में शरण ली थी। उनकी याचिका पर सुनवाई के दौरान 17 अक्टूबर, 2007 को वहां की सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि 'राष्ट्रपति से माफी और फिर जेल से रिहाई के बाद पूर्व प्रधानमंत्री का सऊदी अरब में पनाह लेना जबरन देश

निकाला नहीं कहा जा सकता।' यानी नवाज़ शरीफ ने अपनी मर्जी से सात साल सऊदी अरब में बिताए। इस दौरान उन्होंने सऊदी अरब के राष्ट्रीय संरक्षण में ऐश की जिंदगी गुज़ारी और सऊदी हुक्मरानों के साथ पाकिस्तान और सऊदी के संबंधों पर अनेक बार विचार-विमर्श किया। शायद सऊदी अरब को पता था कि नवाज़ शरीफ पाकिस्तान की सत्ता ज़रूर संभालेंगे। वही हुआ भी।

तीन दिन पहले यानी 21 अगस्त को कराची से 'डॉन' अखबार ने खबर दी कि सऊदी अरब की यात्रा पर गए पाकिस्तान के धार्मिक एवं अंतर्धार्मिक सद्भाव के मामलों के मंत्री सरदार मोहम्मद युसुफ से सऊदी अरब मस्जिद-उल-हरम मक्का और मस्जिद-ए-नबवी मदीना के अध्यक्ष अब्दुरहमान ने वादा किया कि इन दोनों मस्जिदों से हर साल पाकिस्तान को इमाम भेजे जाएंगे। अब्दुरहमान ने कहा कि यह कदम दोनों देशों के बीच दोस्ताना ताल्लुकात मज़बूत बनाने के इरादे से उठाया जा रहा है!

नवाज़ शरीफ सरकार का सऊदी अरब से पाकिस्तान में इमाम लाने का मकसद क्या है? गौरतलब है कि पिछले दिनों सऊदी अरब में तीस हज़ार इमामों को 'नौकरी' से बर्खास्त कर दिया गया। ये सभी इमाम आतंकवादी गतिविधियों में शामिल थे। खुद सऊदी सरकार ने इन्हें नौकरी से

**जिन इमामों को सऊदी अरब खुद आतंकी गतिविधियां प्रायोजित करने वाला मानता है वही पाकिस्तान लाए जा रहे हैं! क्या पाकिस्तान को वहाबी आंदोलन और आतंकवादी गतिविधियों का अड्डा बना कर ही दम लेना है! क्या नवाज़ शरीफ सऊदी अरब के अहसानों का बदला ऐसा चुकाएंगे कि पाकिस्तान की गैर-वहाबी अवाम वहाबियत की आग में झुलस जाए और पूरा दक्षिण एशिया इसकी चपेट में आ जाए!**

निकालने की यही वजह बताई थी। अब ये सारे इमाम अब्दुरहमान के साए में पनाह लिए हुए हैं, सऊदी अरब की पूरी इजाज़त के साथ। इमामों के मामले में सरकारों के नहीं, बल्कि मंत्री और मस्जिद-उल-हरम मक्का और मस्जिद-ए-नबवी मदीना के अध्यक्ष के बीच यह समझौता हुआ।

विकिलीक्स पर यकीन किया जाए तो 2005 में पाकिस्तान के पंजाब सूबे में सऊदी अरब के पैसे से तालिबानों की नियुक्ति हुई थी। नवंबर 2008 में उस समय लाहौर में नियुक्त अमेरिकी स्टेट डिपार्टमेंट के प्रमुख अधिकारी ब्रायन हंट ने स्थानीय धार्मिक और राजनीतिक नेताओं और नागरिक समाज से बातचीत की। उनको सूचना मिली थी कि देवबंदी और अहल-ए-हदीस (वहाबी) मुल्तान, पेशावर और डेरा गाजी खान के गांवों में उग्रवादी मदरसे खोले जा रहे हैं और यहां बच्चों के दिमागों में जिहादी बनने का ज़हर घोला जाता है। फिर उन्हें एफएटीए (फेडरली एडमिनिस्टर्ड ट्राइबल एरियाज) में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। इन्हीं को आत्मघाती दस्ते में शामिल किया जाता है। इसके लिए सऊदी अरब से आने वाला पैसा देवबंदी वहाबी संगठनों - जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद को मिलता है। अरब प्रायोजित संगठन देवबंदी (अहल-ए-हदीस) धार्मिक नेताओं और आम लोगों के बीच संपर्क सूत्र का काम करते हैं। विकिलीक्स के अनुसार 'हर जिहादी शहीद बेटे के परिवार को साढ़े छह हज़ार अमेरिकी डॉलर दिये जाते रहे हैं।'

'द इन्वॉल्वमेंट ऑफ सलफिज़्म/वहाबिज़्म इन द सपोर्ट एंड सप्लाई ऑफ आर्म्स टु रिबेल ग्रुप्स अराउंड द वर्ल्ड' नामक यूरोपीय संघ द्वारा प्रकाशित दस्तावेज़ (जून 2013)

के अनुसार सऊदी अरब से हर साल दस अरब अमेरिकी डॉलर 'अनुदान' के रूप में दिया जा रहा है, जिसका इस्तेमाल आतंकी गतिविधियों के लिए हो रहा है। यह अनुदान देवबंदी वहाबी संगठनों जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद को मिलता है।

ज़रा पीछे मुड़कर देखें तो सऊदी अरब और अमेरिका की मंशा स्पष्ट हो जाएगी। साथ ही आतंकवाद की जड़ें भी नज़र आएंगी। 1978 में ज़िया उल-हक सत्ता में आए। उन्होंने सबसे पहला काम किया सऊदी अरब के साथ संबंध बढ़ाने का। अमेरिकी डॉलर के साथ पेट्रो डॉलर की भी दरकार थी। उन्होंने लायलपुर का नाम फैसलाबाद रखा, किंग फैसल के नाम पर। किंग फैसल की मौत 1975 में हुई थी। इसके बाद फौरन बहुत बड़ी रकम पाकिस्तान आई।

सन् 1979 में दो बड़ी घटनाएं हुईं। सोवियत फौजें अफगानिस्तान में घुसीं और ईरान में खुमैनी ने सत्ता संभाली। यह अमेरिका और सऊदी अरब दोनों के लिए खतरनाक था। ईरान शिया बहुल देश और खुमैनी शिया नेता थे। सारे कानून शिया धर्मशास्त्र के अनुसार लागू हुए। गौरतलब है कि ईरान की ज़बान फारसी है और सऊदी अरब की अरबी। ज़िया को साबित करना था कि वे घोर ईरान विरोधी हैं। पाकिस्तान में फटाफट बहुत सारे ऐसे काम हुए, जिनसे सऊदी अरब और अमेरिका खुश हों। इस हद तक कि खुदा हाफिज़ की जगह अल्लाह हाफिज़ बोला जाने लगा। खुदा फारसी लफज़ है, जबकि सऊदी अरब की ज़बान अरबी है। अल्लाह अरबी लफज़। सो, ज़िया उल-हक ने मीडिया को निर्देश दिया कि खुदा की जगह अल्लाह का इस्तेमाल करें। पहली बार पाकिस्तान रेडियो पर 1979 में 'अल्लाह हाफिज़' सुना गया। हर धर्म को मान्य 'खुदा हाफिज़' न केवल पाकिस्तान, बल्कि पूरे दक्षिण एशिया से लुप्त होने लगा।

इसके साथ ही शुरुआत हुई पाकिस्तान के अचानक इस्लाम से सुन्नी इस्लाम की तरफ बढ़ने की और सुन्नी में भी वहाबी (अहल-ए-हदीस) का रंग देने की। अहमदिया, बोहरा, कादियानी और ज़रा बाद में शिया समुदायों को इस्लामी दायरे से हटाने की मुहिम भी शुरू हो गई। यह सिलसिला अब तक जारी है।

12 जनवरी, 2013 से लेकर फरवरी 2013 तक क्वेटा, पेशावर और खैबर पख्तूनख्वा, तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान, सिपाह-ए-सहबा जैसे संगठनों ने लगभग शिया समुदाय के ढाई सौ लोगों का कत्ल किया। क्वेटा में 12 जनवरी, 2013 को हुए शिया समुदाय के जनसंहार के लिए 'डॉन' ने

सऊदी अरब समर्थित अहल-ए-हदीस को जिम्मेदार ठहराया। कौमी मुत्तहदा मूवमेंट द्वारा गठित तेईस सदस्यीय राबिता कमेटी ने 23 मई को अपने बयान में लगभग यही बात कही।

तत्कालीन प्रधानमंत्री राजा परवेज़ अशरफ ने इन संगठनों को जिम्मेदार ठहराया, मगर किसी संगठन पर न तो छापे मारने के आदेश दिये न कौमी मुत्तहदा मूवमेंट के इस सवाल का जवाब दिया कि इन संगठनों को कहां से और कैसे पैसा आता है। पाकिस्तानी सेना और आइएसआइ ने इस मुद्दे पर एकदम चुप्पी साध ली। ज़ाहिर है कि सेना और आइएसआइ के इन आतंकी संगठनों के साथ गहरे संबंध हैं और ये एक-दूसरे का बखूबी इस्तेमाल करते आए हैं।

इस सिलसिले की एक महत्वपूर्ण कड़ी है हाफिज़ सईद, जो ज़िया-उल-हक के समय से लेकर अब तक पाकिस्तान में वहाबी आंदोलन, आतंकवाद और सऊदी अरब की इन गतिविधियों में हिस्सेदार और 'अनुदान' लाने का मुख्य ज़रिया बना हुआ है। सिलसिला तब शुरू हुआ जब ज़िया-उल-हक ने हाफिज़ सईद को 1981 में उच्च शिक्षा के लिए सऊदी अरब भेजा। वहां से लौट कर वह वहाबी विचारधारा और मिलिटेंट इस्लाम का प्रचारक बना और 1990 में उसने जमात-उद-दावा और लश्कर-ए-तैयबा की नींव डाली।

विकिलीक्स के अनुसार मुंबई के रेल बम विस्फोट मामले में 17 अक्टूबर, 2006 को लाहौर उच्च न्यायालय के आदेश पर रिहा होने के बाद हाफिज़ सईद ने सऊदी की यात्रा की। नवाज शरीफ तब सऊदी अरब में ही थे। उस दौरान हाफिज़ सईद ने नवाज शरीफ और अब्दुरहमान से मुलाकात की। विकिलीक्स की उसी खबर के अनुसार सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात से आतंकी गतिविधियों के लिए आने वाला 'अनुदान' हाफिज़ सईद के ज़रिये आता है, जिसमें आइएसआइ की बड़ी भूमिका रहती है और यह सरकार की नज़रों से भी नहीं छिपा है।

पाकिस्तानी सरकार और उससे जुड़ी संस्थाओं का रवैया भी गौरतलब है। अभी तक पाकिस्तानी सरकार, सेना, पुलिस और आइएसआइ ने आतंकवाद के खिलाफ जितनी भी कार्रवाइयां की हैं, वे सब तालिबानी संगठन के विरोध में हैं। तालिबान का मुख्य कार्यक्षेत्र अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिम सीमा का खैबर और पख्तून इलाका है।

बलूचिस्तान, पंजाब और सिंध में जितनी आतंकी घटनाएं और खून-खराबा हुआ है, उसमें तालिबानी नहीं, जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन, जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे

संगठन सक्रिय रहे हैं। इन तमाम संगठनों के दफ्तर किसी ढंकी-छुपी जगह में नहीं; सरकार, सेना, पुलिस, आइएसआइ की पूरी जानकारी में चल रहे हैं।

मदरसे, जहां दिमागों में ज़हर भरा जाता है और प्रशिक्षण शिविर, जहां हथियारों का प्रशिक्षण दिया जाता और आत्मघाती दस्ते तैयार होते हैं, सब खुलेआम चल रहे हैं। मगर पूरा पाकिस्तानी प्रशासन-तंत्र चुप रहता है। आतंकवाद के खिलाफ कार्रवाई के नाम पर कभी-कभार तालिबान से मुठभेड़ हो जाती है।

सब जानते हैं कि ये संगठन आत्मघाती दस्ते तैयार करने के लिए गरीब और स्कूल छोड़े हुए बच्चों का चुनाव करते हैं। ज़रा इनके 'इस्लाम' की इतिहा देखिये! जब कोई आत्मघाती लड़का काम अंजाम देने के लिए तैयार किया जाता है तो उसे बाकायदा दूल्हा बनाया जाता है। मां-बाप से कहा जाता है कि उसको खुद सजाएं। उसे पूरे गांव में घुमाया जाता है और उसके मां-बाप को मुबारकबाद दी जाती है कि 'अल्लाह' ने तुम्हारे बेटे को इस्लाम की खिदमत के लिए चुना है। जन्मत उसका इंतज़ार कर रही है। उसके बाद बेटे के 'काम' आने पर साढ़े छह हज़ार अमेरिकी डॉलर मां-बाप को दे दिये जाते हैं। यह बर्बरता सारे समाज, पुलिस और प्रशासन की पूरी दानिस्त में अंजाम दी जाती है। आज तक इसके लिए जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे संगठनों से कोई सवाल नहीं किया गया।

जब ये आदमखोर संगठन अल्पसंख्यकों पर जुल्म ढाते हैं तब सरकारी तंत्र की मूक सहमति और भी धिनौने रूप में नज़र आती है। सरकारी तंत्र कभी उन पर परदा डालता है तो कभी उलटे अल्पसंख्यकों पर इलज़ाम मढ़ देता है।

## चिंता बढ़ते एसिड हमले

पृष्ठ 11 का शेष

बांग्लादेश में एसिड फेंकने की घटनाएं बढ़ी हैं। नब्बे के दशक के पहले के सालों में जहां ऐसे हमलों की संख्या वहां दर्जन से पचास के बीच थी, वहीं बाद के वर्षों में यह आंकड़ा तीन सौ के करीब पहुंचा। और जहां तक सजा दिए जाने का सवाल था तो ऐसी स्थितियां न के बराबर थीं। एसिड हमले के जितने मामले सामने आए हैं उनके अध्ययनों के आधार पर कहा जा सकता है कि एसिड का असर चमड़ी से लेकर अंदर तक गहरा पड़ता है। कभी-कभी एसिड हड्डियों को भी गला देता है, आंखों की रोशनी

उमरकोट में हिंदू लड़कियों को जबरन इस्लाम स्वीकार कराने की खबरें सुर्खियों में रहीं। यह काम आम मुसलमानों ने नहीं किया था, जैसा कि खबरों में बताया गया था। जैश-ए-मोहम्मद के कारकून पूरे सरकारी संरक्षण में ऐसा कर रहे थे।

ईसाई समुदाय की अपनी एक पाकिस्तानी मित्र के बारे में मैंने कहीं लिखा था। उसका प्यासा भाई एक मस्जिद में पानी पीने चला गया। सज़ा मिली मौत। काम था लश्कर के 'जांबाजों' का। कोई मुकदमा दर्ज न हो सका। यानी इन वहाबियों के हाथों पूरे देश में कोई भी सुरक्षित नहीं। इनको सऊदी अरब ऐसे ही कामों के लिए 'अनुदान' देता है। जब सरकार भी वहीं से पैसा ले रही है और ये संगठन भी, तो सरकार कैसे लगाम लगाए इन पर! लगाम तो सऊदी अरब के पास है। उसी ने नवाज़ शरीफ को पनाह दी थी। आज वही अपना एजेंडा लेकर नवाज़ शरीफ के सामने है। कर्ज़ तो चुकाना होगा।

अरब मस्जिद-उल-हरम मक्का, और मस्जिद-ए-नबवी मदीना से आने वाले इमामों के लिए समझौते को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए और सऊदी अरब के साथ-साथ नवाज़ शरीफ की मंशा पर भी नज़र डालनी चाहिए। जिन इमामों को सऊदी अरब खुद आतंकी गतिविधियां प्रायोजित करने वाला मानता है वही पाकिस्तान लाए जा रहे हैं! क्या पाकिस्तान को वहाबी आंदोलन और आतंकवादी गतिविधियों का अड्डा बना कर ही दम लेना है! क्या नवाज़ शरीफ सऊदी अरब के अहसानों का बदला ऐसा चुकाएंगे कि पाकिस्तान की गैर-वहाबी अवाम वहाबियत की आग में झुलस जाए और पूरा दक्षिण एशिया इसकी चपेट में आ जाए!

खत्म कर देता है तथा वह व्यक्ति की कार्यक्षमता को भी प्रभावित करता है। ऐसे हमले के शिकार व्यक्ति के लिए ताउम्र समाज में साधारण व्यक्ति की तरह जीना संभव नहीं हो पाता है। चेहरे और शरीर के विकृत रूप के चलते वे खुद भी हीनभावना का शिकार हो जाते हैं और इन मामलों के प्रति संवेदनहीन रहने वाला समाज भी स्थिति को और गंभीर बना देता है। ऐसे लोगों से शादी जैसा रिश्ता रखना तो दूर लोग उनको दोस्त की श्रेणी में भी नहीं रखते। अक्सर बच्चे भी इन पीड़ितों से दूर भागते हैं। इससे एसिड हमले के शिकार लोगों के जीवन की मुश्किलों को समझा जा सकता है। हमें एसिड हमले रोकने के कारगर प्रयास करने होंगे।

# भारतीय समाज में महिलाएं

■ श्वेता यादव

स्त्री का संघर्ष अपनी निरंतरता में प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। ऐसे समय में जब सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों जगह महिलाओं के प्रति हो रही हिंसा, भेदभाव इत्यादि में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है, तब यह ज़रूरी हो जाता है कि हम बीते हुए वर्षों से लेकर अब तक के महिला आंदोलनों और महिला सशक्तिकरण के लिए होने वाले प्रयासों की पड़ताल करें। इसी सन्दर्भ में नीरा देसाई और ऊषा ठक्कर की लिखित पुस्तक “भारतीय समाज में महिलाएं” जिसका अनुवाद डॉ. सुभी धुसिया ने किया है की समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। यह पुस्तक सिर्फ बुद्धिजीवियों तक ही अपनी बात नहीं पहुँचाती वरन सामान्य पाठक वर्ग को भी अपनी बात सरलता से समझाने का प्रयास करती है। यह भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति के साथ-साथ बदलते वैश्वीकरण के प्रभावों की तरफ भी ध्यान आकृष्ट करती है। इसमें संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के तहत विभिन्न विद्वानों के विचारों को समाहित करते हुए, आज़ादी से पूर्व और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात छः दशकों की विभिन्न घटनाओं को रेखांकित करते हुए नारी के अतीत, वर्तमान, भविष्य को पारिवारिक और सामाजिक स्थिति में परखते हुए भारतीय नारीवाद के संघर्ष के इतिहास को दर्ज करने की कोशिश की है।

19वीं सदी में पहली बार महिलाओं से संबंधित प्रश्न उठने शुरू हुए। अंग्रेजों के आगमन के साथ ही नए विचारों का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें महिलाओं से जुड़े मुद्दे पर विचार की प्रक्रिया शुरू हुई। इसके साथ ही साथ भारतीय विद्वानों को भी ये अहसास होना शुरू हो गया की जिस परम्परागत ढांचे का वे अभी तक निर्वाह कर रहे हैं, जिसे महान समझ रहे हैं दरअसल वह कितना पिछड़ा हुआ है। अंग्रेजों के आने के पश्चात् देश में महिलाओं के प्रति फैली हुई कुरीतियों का विरोध होना शुरू हुआ। इन प्रयासों के चलते महिलाएं सामने आने लगीं और महिला संगठनों का निर्माण हुआ जिन्हें खुद महिलाएं संचालित करती थीं, और इनका पहला एजेंडा था महिला शिक्षा। अब मताधिकार के लिए भी महिलाओं ने संघर्ष करना शुरू कर दिया। सरोजनी नायडू के नेतृत्व में 1917 में महिलाओं का एक दल भारत मंत्री एडविन माटेग्यू से मिला और महिलाओं को मत देने के अधिकार की मांग की। बम्बई और मद्रास पहले प्रान्त थे

जिन्होंने 1919 में महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया। इससे पहले सभी प्रान्तों द्वारा इसकी उपेक्षा की गई। स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की सहभागिता ने महिलाओं को यह अवसर प्रदान किया कि वे अपने समानता के आन्दोलन को और मुखर कर सकें। 1917 में एनी बेसेंट का कांग्रेस का प्रथम महिला अध्यक्ष बनना 1925 में सरोजनी नायडू, 1935 में नलिनी सेन गुप्ता का अध्यक्ष बनना समानता की एक शुरुआत थी। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप स्वतंत्रता पश्चात् जब भारत का संविधान निर्मित होने लगा तब महिलाओं को बहुत सारे अधिकार मिले। यह महज संयोग है कि वर्ष 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करने और उसके एक दशक तक विस्तार की घोषणा के साथ ही देश आपातकाल की स्थिति में फंस गया। उस समय की सरकार द्वारा उठाये गए इस कदम ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था को आघात पहुँचाया और देश में उभरते हुए महिला आन्दोलन को अवरुद्ध कर दिया। 1981 में देश में नारी अध्ययन पर प्रथम राष्ट्रीय सम्मलेन हुआ था जिसने इस बात को साफ़ कर दिया कि नारी विषयक शोध सिर्फ नारी विषयक सूचनाओं तक ही सीमित नहीं होने चाहिए बल्कि इसका सामाजिक और शैक्षणिक सरोकार भी होना चाहिए।

ऐसा माना जाता है कि घर के काम करना, बच्चे संभालना यह एक महिला की जिम्मेदारी है इसलिए इस कार्य को परिभाषित कार्य के अंतर्गत नहीं रखते। एक लम्बी बहस के बाद महिलाओं द्वारा किये जाने वाले कार्य को श्रम के अंतर्गत माना गया और इसका श्रेय स्वतंत्रता पूर्व की राष्ट्रीय नियोजन समिति की उप समितियों को जाता है जिन्होंने महिलाओं को आर्थिक रूप से सबल बनाने और घरेलू कामों के आर्थिक मूल्य की सार्थकता पर बल दिया। स्वतंत्रता के बाद प्रस्तुत रिपोर्ट एक ऐतिहासिक रिपोर्ट थी, जिसमें आर्थिक कार्यों विशेषकर असंगठित क्षेत्रों में, महिलाओं की उपेक्षा की तरफ ध्यान दिलाया गया था। संगठित तथा असंगठित कार्य क्षेत्रों में महिलाओं द्वारा किये गए कार्य को सांख्यिकी अदृश्यता में रखने की वजह, दरअसल महिलाओं के खिलाफ सामाजिक पूर्वाग्रहों की गहरी जड़ों का होना है। महिलाओं द्वारा किया गया कार्य ज्यादातर अवैतनिक होता है जैसे घर - परिवार के लिए या फिर कृषि से संबंधित कार्य इत्यादि। इसलिए उनका कार्य, श्रम की जो प्रस्तुत

परिभाषा है, से बाहर होता है। (जिस कार्य के लिए भुगतान होता है वह कार्य, श्रम की परिभाषा के अंतर्गत आता है।) महिलाओं को बहुत सारे जटिल कार्य करने पड़ते हैं जैसे मीलों चलकर पानी लाना, ईंधन एकत्र करना, जो महिलाएं बहुधा मजदूरी के काम करती हैं उनकी स्थिति और भी दयनीय है। वो ज्यादातर अपने शारीरिक शक्ति से ज्यादा भार उठाती हैं, यहाँ तक की गर्भावस्था में और बच्चे के जन्म के तुरंत बाद अधिक भारी काम करने की वजह से उनके गर्भपात, मासिक गड़बड़ी और रीढ़ की हड्डी से जुड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आधुनिक आर्थिक नीतियों का भी महिलाओं पर प्रभाव वर्ग, जाति, लिंग और धर्म के जटिल अंतर्संबंधों के कारण प्रभावित होता है। किन्तु इतनी विकट परिस्थितियों के बावजूद भी बदलते आर्थिक परिदृश्य के साथ महिलाओं की स्थिति में भी बदलाव हो रहे हैं। विपरीत परिस्थिति में भी महिलाएं काम कर रही हैं, संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठा रही हैं और सफलता के नए प्रतिमान को गढ़ने का प्रयास कर रही हैं।

ऐसा समाज जहां लैंगिकता के आधार पर भेदभाव जैसी बुराई उपलब्ध है वहां लड़कियों की शिक्षा को प्राथमिकता मिलने की संभावना कम ही है। और यह विषमता शहरों की अपेक्षा ग्रामीण अंचलों और गरीब परिवारों में ज्यादा है। आज़ादी के पूर्व गठित आयोगों ने जो रिपोर्ट प्रस्तुत की उसमें महिला शिक्षा की तरफ सबसे पहला ध्यान राधाकृष्णन कमेटी ने दिया, किन्तु इस आयोग ने भी महिलाओं की शिक्षा को सिर्फ इसी हद तक रखने की वकालत की जिससे कि वे एक अच्छी गृहणी बन सकें और अपने परिवार का पालन-पोषण बेहतर तरीके से कर सकें। आज़ादी के बाद भारत ने सम्पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य तक पहुँचने का निश्चय किया तथा भारत के संविधान ने 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की गारंटी दी और साथ ही इसके लक्ष्य को पूरा करने का जो समय निर्धारित किया वो दस वर्ष का था। ये अलग बात है कि इसे अभी तक पूरा नहीं किया जा सका है और यह अभी भी बड़ी बहस का मुद्दा है। इस मुद्दे (शिक्षा) पर आगे लिखते हुए लेखिकाओं ने लिखा है कि “19वीं सदी में हम महिलाओं को अपने पति की बेहतर सहयोगी बनाने के लिए महिला शिक्षा की वकालत करते थे, बीती सदी में शिक्षा महिला को सशक्त बनाने के लिए थी, आज हम महिला द्वारा भारत की नागरिक होने के कारण शिक्षा के अधिकार की वकालत करते हैं। गैर सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) ने भी सरकार के साथ मिल कर सम्पूर्ण साक्षरता के लिए बड़े ही जिम्मेदार तरीके से कोशिश की है। लड़कियों की शिक्षा में आने वाली दिक्कतों को पहचान कर और उनके समाधान के साथ-साथ लड़कियों की शिक्षा की निरंतरता को बनाये रखने का एक अतुलनीय प्रयास गैर सरकारी संगठनों द्वारा किया जा रहा है।

बात को आगे बढ़ाते हुए लेखिकाएं लिखती हैं कि परिवार के बिना किसी समाज की कल्पना बेमानी है। एक तरफ तो परिवार महिलाओं को सुरक्षा प्रदान करने का सबसे बड़ा केंद्र है तो वहीं परिवार महिलाओं के लिए संकटकालीन संस्था भी है। अमर्त्य सेन इस संस्था की समस्याओं का जिक्र करते हुए कहते हैं कि परिवार में ‘मतैक्य और संघर्ष’ का सह-अस्तित्व होता है। दक्षिण एशिया में परिवार के दो प्रकार हैं पहला मातृसत्तात्मक और दूसरा पितृसत्तात्मक। परिवार में महिला की स्थिति परिवार के प्रकार और पारिवारिक संरचना पर निर्भर करती है। मातृवंशीय व्यवस्था में पैदा होने वाली संतानों को माँ के वंश द्वारा स्थायी सदस्यता मिलती है इसमें संपत्ति का अधिकार महिलाओं को मिलता है। विवाह के बाद महिला अपने पति के घर नहीं जाती अपितु पति, पत्नी के घर आता है। इस प्रकार मातृसत्तात्मक परिवार, परिवार संस्था का ऐसा प्रकार है जिसमें महिला अधिकार और समाज में उसकी भूमिका पर ध्यान दिया जाता है। पितृसत्तात्मक समाज में बच्चे अपने पिता की वंशावली से जाने जाते हैं। इसमें लड़के वंश माने जाते हैं और बेटियां पराया धन जिनका सामाजिक रूप से संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। विवाह के पश्चात् लड़की अपने पति के घर चली जाती है, जो उसका अपना घर माना जाता है। अपने घर में भी वो पूर्णतया तभी सम्मिलित हो पाती है जब कि वह बेटे को जन्म देती है। इतना ही नहीं उसकी कमाई पर भी ससुराल का हक होता है। इधर बीच बहुत सारे अधिनियम ऐसे आये जिन्होंने मातृसत्तात्मक समाज पर प्रतिकूल प्रभाव डाले और आधुनिक ताकतों ने इन फैसलों के ज़रिये पितृसत्ता का पक्ष लिया। इनमें एक फैसला मेघालय का उत्तराधिकार अधिनियम जिसने खासियों के समाज को भी बदल दिया। मातृसत्ता का सबसे बड़ा नुकसान उस समय हुआ जब कानून ने पुरुष वंशावली में संपत्ति के हस्तांतरण को वैधता प्रदान कर दी। महिलाओं को कानून ने कुछ बड़े अधिकार दिए हैं पर उनकी सामाजिक वैधता पर अभी भी सवाल है। इन कानूनों में संपत्ति का अधिकार, तलाक का अधिकार इत्यादि हैं। किन्तु तलाक के बाद महिला का अपने ससुराल की संपत्ति में अधिकार अभी भी विवाद का विषय है। परिवार में लड़कियों का समाजीकरण किया जाता है ताकि उन्हें महिला बनाया जा सके। शुरू से लड़के और लड़कियों में भेदभाव किया जाता है, लड़कियों को हमेशा यह कहा जाता है की तुम तो पराया धन हो। बदलते परिदृश्य में कार्यक्षेत्र, सार्वजनिक स्थल पर या निजी स्थानों पर महिला के साथ हिंसा अब व्यक्तिगत न होकर नारी विमर्श का विषय बनने लगा और इसने विकासवादी नीति के यथार्थ पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। एक स्त्री का सम्पूर्ण जीवन अपने परिवार को हर स्तर से परिपूर्ण बनाने में खर्च हो



जाता है पर इसी परिवार से जब एक महिला अपने हक की मांग करती है तो परिवार का अन्यायपूर्ण रूप उभर कर सामने आता है।

भारत में महिलाओं की राजनितिक सहभागिता के बहुत सारे आयाम हैं। एक पक्ष जो महिला को लिंग के आधार पर देखता है, जो यह प्रयास करता है कि वह भारत के सम्पूर्ण महिला समुदाय को साथ लेकर चलना चाहता है। परन्तु महिलाओं से जुड़ी वास्तविक समस्याओं को देखने पर पता चलता है कि महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता भी पुरुषवाद के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए किया गया एक प्रयास है। हम कुछ महिलाओं को छोड़ दें तो तस्वीर कुछ साफ़ होकर के उभरती है जिससे यह पता चलता है कि महिलाओं की सहभागिता भी मात्र महिला वोट बैंक को छलने का एक प्रयास है। बदलते राजनीतिक परिदृश्य में राजनीति का स्वभाव और रूप दोनों बदला है। ऐसे में अब पार्टियां उन प्रत्याशियों को भी टिकट देने से नहीं हिचकियाती जो कि महिला मुद्दों को लेकर असंवेदनशील हैं और उनकी दृष्टि में महिला अभी भी दोगम दर्जे की नागरिक है। अब जब कि चुनाव पैसे और शक्ति प्रदर्शन का माध्यम बन गया है ऐसे में उसी महिला को पार्टियां टिकट देना चाहती हैं जो चुनावी खर्च का इंतजाम कर सके और जीत सके। अक्सर महिलाओं को ऐसे निर्वाचन क्षेत्र से खड़ा किया जाता है जहां से उनके जीतने की संभावना कम हो। इस तरह से उनके दोनों स्वार्थ सिद्ध होते हैं। वो यह भी दर्शाने में कामयाब होते हैं कि महिलाओं की भागीदारी को लेकर वो कितने सचेत हैं परन्तु महिलाएं राजनीति में कमतर हैं।

महिलाओं के लिए बनाये गए कानून का यदि एक अवलोकन करें तो हमें पता चलता है कि इसकी शुरुआत सबसे पहले लिंग समानता की नहीं बल्कि उनके ऊपर हो रहे अत्याचार हैं। इस परिप्रेक्ष्य में अगर हम न्यायालयों के फैसलों को देखें तो वह भी कहीं न कहीं पुरुषवादी मानसिकता से ग्रसित एवं महिला विरोधी ही दिखते हैं। इसके विपरीत जो ऐतिहासिक फैसले महिलाओं के पक्ष में आये हैं उनके पीछे महिला संगठनों और नारी विमर्श से सरोकार रखने वाली संस्थाओं और जनमानस का लम्बा संघर्ष दिखता है। महिलाओं की सुरक्षा एवं समानता के लिए बनाये गए कानून देखने में तो अच्छे लगते हैं परन्तु इसका संचालन एवं इसे स्थापित करना यह समाज पर निर्भर करता है। वह समाज जो अभी तक धर्म, जाति, भाषा एवं क्षेत्र की बंदिशों में बंधा हुआ है। उससे यह उम्मीद करना की वो इन कानूनी उपायों को समाज में स्थापित कर पायेगा, मुश्किल है किन्तु स्त्री विमर्श के संघर्ष की यह लड़ाई अनवरत जारी है।

70 और 80 के दशकों में महिला आंदोलनों को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। महिलाओं के लिए बनती नीतियों और सतह पर उनके अदृश्य प्रभावों ने यह साफ़ कर दिया था कि अब महिला आंदोलनों को अपने तरीकों में परिवर्तन की आवश्यकता है, और इसे अपनाया भी गया। पहले जहाँ एक महिला संगठन महिलाओं से जुड़ी तमाम समस्याओं को उठाता था अब उसने अपने आंदोलनों को कुछ मुद्दों तक सीमित कर लिया और उनके लिए अपने संघर्ष को तेज किया। अस्सी के दशक का अंतिम वर्ष एवं नब्बे के दशक में कुछ घटनाओं ने जैसे रूपकुंवर का सती होना, शाहबानो का गुजारा भत्ता पाने का मुकदमा, बाबरी मस्जिद का विध्वंस, राष्ट्रीय एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियों में महिलाओं की दस्तक, वैश्वीकरण में भारतीय नारियों की भूमिका, लेखिकाओं द्वारा लिखी गई कथाएं तथा आत्मकथाएं, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा थोपी गई बाजारू शक्तियों ने अर्थव्यवस्था, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति एवं नागरिक समाज के क्षेत्र में होने वाले महिलाओं के संघर्ष के स्वरूप को बदल दिया। अब इन संघर्षों के द्वारा उनका जो सरोकार था वह था स्त्री अस्मिता की पहचान। इस दौरान इस बात की भी समझ एवं सहमति बन गई थी कि अब महिला आंदोलनों को पीड़िता के दृष्टिकोण से समझना एवं चलाना आवश्यक है। क्योंकि यही एक ऐसा उपाय है जो महिला को समूह एवं व्यक्ति दोनों ही रूपों में समाज में स्थापित करता है।

बीते पांच दशकों की अगर पड़ताल करें तो एक मिला-जुला चित्र उभर कर हमारे सामने आता है। इस चित्र में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू हैं। आज़ादी के पश्चात् विभाजन के जिस दंश से सभी को गुजरना पड़ा उसका सबसे स्याह हिस्सा शायद महिलाओं के ही खाते में आया। आज भी साम्प्रदायिकता की गहरी जड़ों का दंश महिलाओं को झेलना पड़ रहा है। जाति, वर्ग, धर्म, क्षेत्र, भाषा में असमानता होने के बावजूद पितृसत्तात्मक धरातल पर सभी महिलाओं की समस्याएं समान हैं। हिंसा के बढ़ते हुए प्रभाव में महिलाएं लिंग अनुपात की कमी, किशोरी से दुष्कर्म, घरेलू हिंसा, बलात्कार जैसी घटनाओं को देखते हुए प्रतीत होता है कि महिला आंदोलनों ने अपने शुरुआती दौर में जितना पाया था, अंतिम कुछ वर्षों में उतना खो दिया। इसके साथ ही साथ महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति भी भयावह है। गिरता हुआ लिंग अनुपात, कन्या भ्रूण हत्या इत्यादि। मीडिया में भी जिस तरह से महिलाओं को पेश किया जा रहा है वह भी चिंता का विषय है। किन्तु महिला अपने सामर्थ्य, सामूहिक संघर्ष, संवेदनशील मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की मदद से नई इबारत लिखने की चाह में सफलता की तरफ दिन-प्रतिदिन अपने कदम बढ़ाती जा रही है।

## साड़ी विरासत

■ जां निसार अख्तर

...पिछले अंक से जारी

हमारे शहर और इलाके :

मौलाना आज़ाद मरहूम का खयाल था कि ग़ालिब कलकत्ते की प्रशंसा सिर्फ़ इसलिए करते हैं कि अंग्रेज़ों की पसंद को अपनी पसंद करार देना चाहते हैं, लेकिन यह सही नहीं। ग़ालिब सन् 1828 ई. से सन् 1830 ई. तक इस शहर में रहे। उस वक़्त कलकत्ता सचमुच 'जन्नतुल्लाद' (स्वर्ग की तरह सुंदर शहर) का हुक्म रखता था। अबुल कलाम आज़ाद और कौसर चांदपुरी ने जिन कृतियों का हवाला दिया है वे उस वक़्त की हैं जब कलकत्ता गुंजान आबादी के कारण बीमारियों का घर बनने लगा था। गारसां दू तासी ने अपने व्याख्यानों में लिखा है कि 'इस युग में हिंदुस्तान के मुसलमान बंगाल को जन्नतुल्लाद ही कहते थे।' बहरहाल ग़ालिब को शहर कलकत्ते से सचमुच लगाव पैदा हो गया था जिसकी पुष्टि उनके कुछ पत्रों से भी होती है। कलकत्ता पर एक उद्धरण हमने हुर्मतुल इकराम की लंबी नज़्म 'कलकत्ता एक रबाब' से भी लिया है। इसमें इस बड़े शहर के सामाजिक, सांस्कृतिक और कल्चरल जीवन के तारीक और रौशन, दोनों पहलुओं की झलकियां मिलती हैं। इलाहाबाद, बनारस और जौनपुर पर 'सफ़ी' लखनवी की नज़्में हैं। 'सफ़ी' मरहूम ने ये तमाम नज़्में 'लख्ते-जिगर' शीर्षक के अंतर्गत कही थीं। यद्यपि ये नज़्में ऑल इंडिया शीआ कांफ़्रेंस के उद्देश्य से लिखी गयी थीं और विभिन्न जलसों में पढ़ी गईं लेकिन इन शहरों पर उन्होंने गहरी नज़र डाली और किसी नज़्म में उस स्थान का ऐतिहासिक महत्व और किसी में उसके प्राचीन खंडहरों का विवरण दिया गया है। बनारस पर उर्दू में सैंकड़ों नज़्में हैं। हमने 'सफ़ी' की नज़्म के अलावा 'रईस' अमरोहवी की भी एक छोटी-सी नज़्म बनारस पर दी है जो प्रभावशाली है। आगरा की ऐतिहासिक महानता पर मौलाना 'सीमाव' की नज़्म है। गुजरात (पंजाब) जिसकी धरती में सोहनी-महिवाल के प्रेम की खूशबू बसी है उस पर 'अख्तर' शीरानी मरहूम की लिखी हुई छोटी मगर सुंदर साहित्यिक रचना है। लखनऊ पर भी 'अख्तर' ही के चंद शेर हैं। अलीगढ़ पर 'मजाज़' की नज़्म है जो ख़ालिस रूमानी है लेकिन उसकी भावनात्मक तीव्रता से इनकार नहीं किया जा सकता। इस नज़्म को मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों ने अपनी यूनिशन का तराना बनाया हुआ है और विद्यार्थियों ही की आवाज़ में इस तराने का रेकार्ड तैयार हो चुका है। बम्बई पर सरदार जाफ़री की एक नज़्म का उद्धरण दिया गया है। यह नज़्म यद्यपि निजी अनुभव से प्रेरित है लेकिन इसके आइने में

बम्बई की जिंदगी की बहुत-सी कटु सच्चाइयां बड़ी खूबी के साथ झलक उठी हैं-

तिरी सड़कों पे सोये

तेरी बारिश में नहाये हैं

हैदराबाद का बड़ा ऐतिहासिक महत्व रहा है। यह शहर सदियों ज्ञान और साहित्य, सभ्यता और शिष्टता का पालना रहा है। दकनी उर्दू का पहला साहिबे-दीवान शाइर सुल्लान कुली कुतुबशाह इसी धरती पर पैदा हुआ। 'वली' दकनी, जिन्हें उर्दू शाइरी का बाबा आदम कहा जाता है, एक मुदत तक इस शहर से वाबस्ता रहे। इस तारीख़ी शहर पर सिकन्दर अली 'वज़्द' की छोटी-सी नज़्म है। औरंगाबाद की भी हमारे राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में कम अहमियत नहीं। 'वज़्द' और युसुफ़ 'नाज़िम' की नज़्मों में बहुत-से साहित्यिक और सांस्कृतिक हवाले मिलते हैं। खुल्दाबाद पर 'मैकश' हैदराबादी मरहूम की नज़्म है। जगन्नाथ 'आज़ाद' ने लाहौर पर नज़्म कही है और वहां के बहुत-से साहित्यकारों के हवाले दिये हैं। देहली पर जो सदियों से हिंदुस्तान का दिल है, नरेशकुमार 'शाद' मरहूम की शास्त्रीय शैली में छोटी-सी साहित्यिक सर्जना है। इस अध्याय में जिन क्षेत्रों पर हमने नज़्में शामिल की हैं उनमें 'नाज़िश' प्रतापगढ़ी की 'वादि-ए-कश्मीर' है। याह्या आज़मी की 'जन्ते-रंगो-बू' भी इसी हसीन और शादाब क्षेत्र का चित्रण करती हैं एक नज़्म ब्रज इलाके पर है जो मुंशी बनवारीलाल 'शोला' की रचना है। ब्रज को जो धार्मिक पवित्रता प्राप्त रही है उसकी पूरी झलक उनके मुसद्दस में मौजूद है। आखिर में सरदार जाफ़री की 'अवध की खाँके-हसीं' है जो उनकी एक लंबी नज़्म से ली गयी है। इसमें सरदार ने अवध की प्राकृतिक सुंदरता, वहां के खेतों, किसानों और मज़दूरों का चित्रण बड़ी कुशलतापूर्वक किया है।

हमारी इमारतें :

नालन्दा प्राचीन भारत में सबसे बड़े विश्वविद्यालय की हैसियत रखता था जो मगध में स्थित था। उस समय तक मुद्रण कला का आविष्कार न हुआ था। किताबें हाथ से लिखी जाती थीं। चीनी पर्यटक ह्वेनसांग ने पांच वर्ष तक इस विश्वविद्यालय में रहकर शिक्षा प्राप्त की। उसे गौतम बुद्ध की धरती देखने और बौद्ध मत के साहित्य का अध्ययन करने का शौक ही हिंदुस्तान खींचकर लाया था। यह नज़्म उसी नालंदा के खंडहरों की आवाज़ बनकर हमारे सामने आती है। आज नालंदा को दुबारा जीवित करने की कोशिश हो रही है लेकिन उर्दू शाइरी ने उस प्राचीन नालंदा की तस्वीर को

अपने सीने में सुरक्षित कर रखा है। अजन्ता और एलौरा की गुफायें हमारी शानदार ऐतिहासिक यादगारें हैं और संगतराशी के आश्चर्यजनक चमत्कार की हैसियत रखती हैं। इन गुफाओं को बनाने या बनवाने का सिलसिला हमारे यहां पांचवी सदी के मध्य से आरंभ हुआ था और दो सौ वर्षों तक रुक-रुककर काम होता रहा। एलौरा में प्रारंभिक गुफायें बौद्धमत से संबंधित हैं। हिंदू धर्म ने जब नया रूप धारण किया और बौद्ध मत के मुक़ाबले पर आया तो चट्टानों को काटकर गुफायें बनाने में भी प्रतिस्पर्धा हुई। सातवीं सदी के प्रारंभ में बौद्ध भिक्षु एलौरा में अपना काम समाप्त कर चुके थे जबकि ब्राह्मणों और जैनियों ने अपना काम अभी आरंभ ही किया था। एलौरा में हिंदू धर्म और जैन मत से संबंधित गुफायें भी निर्मित हुईं। इन सबमें कैलाश मंदिर संगतराशी का शानदार नमूना है। इन गुफाओं में मूर्तियों को एक विशेष क्रम दिया गया है और इसमें शक नहीं कि कला और धर्म यहां एक आत्मा और एक शरीर नज़र आते हैं। अजन्ता और एलौरा पर उर्दू में कई नज़्में हैं लेकिन सिकन्दर अली 'वज़्द' की नज़्मों को प्रधानता प्राप्त है। इनमें एक ऐसी भावनात्मक गहराई और विस्तार मिलता है जो इन नज़्मों को अजन्ता और एलौरा ही की तरह अमर बना देता है। इसके बाद हमने ताजमहल पर कुछ नज़्में दी हैं। ताजमहल का निर्माण जिस युग में हुआ उससे बहुत पहले हिंदू वास्तुकला और ईरानी वास्तुकला का सम्मिश्रण व्यवहार में आ चुका था। हम सरसरी तौर पर एक नज़र डालें तो देखेंगे कि अजमेर की जामा मस्जिद में आबू पर्वत के जैन मंदिर का प्रतिबिंब है। रनपुर के मंदिर में मस्जिद के खम्भों का प्रत्यंकन है। कुतुबमीनार की सजावट जैन प्रणाली की सजावट की आभारी है। ग्वालियर में मानसिंह के महल हिंदुओं और मुसलमानों की मिश्रित वास्तुकला का नमूना हैं। अकबर और जहांगीर द्वारा निर्मित महल और बाग़ मिली-जुली सभ्यता का संगम हैं। फ़तेहपुर सीकरी की मस्जिद, खासतौर पर उसके गुम्बदों में हिंदू वास्तुकला झलकती है। यह मिश्रित वास्तुकला, जिसे शाहजहां के युग में मुग़ल निर्माण शैली कहा जाता था, ऐसी विशेषताओं की द्योतक बन गयी थी जो न शुद्ध हिंदी वास्तुकला में पाई जाती हैं, न शुद्ध ईरानी शैली में। ताजमहल इसी शैली का श्रेष्ठ नमूना है। यही नहीं बल्कि इसके निर्माण में अगर उस्ताद याहिया, अमानत खां तुग़रानवीस, मुहम्मद खां खुशनवीस का हाथ है तो मोहनलाल पच्चीकार, मनोहरसिंह और मन्नूलाल का भी उतना ही हाथ है। इन नज़्मों के अलावा हुमायूँ के मक़बरे पर 'जोश' की नज़्म और अकबर के मज़ार पर 'सीमाब' की नज़्म 'सिकन्दर' शानदार नज़्में हैं। एक नज़्म ऐतमादुद्दौला पर भी है। यह उसी मिश्रित वास्तुकला की यादगार इमारतों में से है। जोधाबाई के मंदिर पर 'सीमाब' की एक छोटी-सी नज़्म है। जोधाबाई जहांगीर की पत्नी और जोधपुर-नरेश राजा उदयसिंह की पुत्री थी और उसका असली नाम मानमती था। उसी के पेट से शाहजहां पैदा हुआ था। मौलाना शिवली की नज़्म जिसका यह शेर है :

दुल्हन की पालकी लाए थे जो खुद के कांधों पर  
वो शाहशाहे-अकबर और जहांगीर इब्ने-अकबर था  
जोधाबाई ही की विदाई के बारे में है। अकबर ने जो राष्ट्रीय एकता का स्वप्न देखा था वह बहुत कीमती था और आज की हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक सुंदर उदाहरण की हैसियत रखता है। अंत में एक नज़्म भाखड़ा नंगल बांध पर है, जो आधुनिक वास्तुकला का एक शानदार कारनामा है, जिसका उद्घाटन करते हुए पंडित नेहरू ने कहा था कि आज की दुनिया में इनका वही स्थान है जो आराधना-गृह का होता है। यह नज़्म दरअसल इस बात की पुष्टि है कि उर्दू शाइरी अगर अपने देश की प्राचीन धरोहर से मुहब्बत रखती है तो आज के हर उन्नतिशील मंसूबे से भी अनभिज्ञ नहीं और स्वयं को वर्तमान काल के हर संघर्ष में लीन रखती है।

### हमारी ललित कलायें :

यह मेलजोल और एकता केवल वास्तुकला तक ही सीमित न थी। दूसरी कलायें जैसे संगीत या चित्रकला भी इस रंग से प्रभावित हो रही थीं। भारत में संगीत प्राचीन कला से एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। केवल सांस्कृतिक और सामाजिक समारोहों में ही नहीं बल्कि धार्मिक संस्कारों और पूजा-पाठ आदि में भी इसका अपना स्थान रहा है। तेरहवीं सदी ईसवी के बाद से दूसरी ललित कलाओं की तरह संगीत भी मिश्रित सौंदर्याभिरुचि का प्रतीक बनता गया। अमीर खुसरो की मिसाल तो मशहूर है। उन्होंने विभिन्न राग-रागिनियां और वाद्य ईजाद किये। अधिकांश मुसलमान बादशाहों की भी इस कला से कम दिलचस्पी नहीं रही। फ़रिश्ताकृत इतिहास में तो बाबर तक को संगीत का प्रेमी बताया गया है। अकबर के युग में इस कला का संरक्षण किया गया। तानसेन के अलावा हरिदास और रामदास को देशव्यापी कीर्ति प्राप्त हुई। यह संरक्षण जहांगीर और शाहजहां के दौर में भी जारी रहा। यह बात केवल देहली तक सीमित न थी बल्कि आदिलशाही हुकूमत में इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय स्वयं बहुत बड़ा संगीतकार था। उसकी रचना 'नौरस' में राग-रागिनियों को ध्यान में रखकर गीत कहे गये हैं। हिंदू पौराणिक कथाओं का उसे पूर्ण ज्ञान था। शिव, पार्वती, सरस्वती, गणेश, वगैरा पर 'नौरस' में गीत शामिल हैं। इब्राहिम आदिलशाह ने सरस्वती के बारे में जो गीत कहा है वह अपरिचित दकनी शब्दों से भरा हुआ है लेकिन उसका अनुवाद डॉ. नज़ीर अहमद के शब्दों में सुनिये : "ज्ञान का रास्ता दिखाई नहीं देता था इसलिए सरस्वती और गणेश चांद और सूरज का प्रकाश बन गये।" यह सच है कि इब्राहिम आदिलशाह हिंदुस्तानी अभिरुचि और सभ्यता को लोकप्रिय बनाने में उतना ही प्रयत्नशील था जितना महान् अकबर था। कुली कुतुबशाह के दौर में भी संगीत का खासा ज़ोर रहा। हर त्योहार चाहे वह नौरोज़ हो या वसंत या जश्ने-ईदे-मीलादुन्नबी, गाने और नाच के बिना नहीं मनाया जाता था। देहली में शाहआलम द्वितीय ने राग और ताल के अनुसार अपने खयाल कविताबद्ध किये हैं। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में

संगीतकारों की कृद थी। उसके दरबार का प्रसिद्ध संगीतकार सदारंग था जिसने खयाल को उन्नति के शिखर पर पहुंचाया। मालवा में बाज़बहादुर और लखनऊ में लगभग सारे शासकों ने इस कला का संरक्षण किया। आसिफुद्दौला के ज़माने में संगीत पर एक महत्वपूर्ण रचना 'उसूलुन्नगमातल-आसफिया' लिखी गयी। वाजिदअली शाह के दौर तक तो संगीत की लोकप्रियता अपनी चरम सीमा तक पहुंच गयी थी। वाजिदअली शाह ने खुद कई रागिनियां, जोगी, जुही वगैरा ईजाद की थीं और तानसेन के घराने के कुशल संगीतकारों को अपने दरबार में एकत्र कर लिया था। इसका कारण यह भी था कि अयोध्या और बनारस से, जो पहले ही से संगीत का केंद्र थे, अवध सल्तनत का खास संबंध था। बहरहाल संगीत के मैदान में भी जो एकता और मेलजोल नज़र आता है वह छिपा हुआ नहीं। गुलाम नबी शऊरी ने टप्पा ईजाद किया तो खुसरो ने क़व्वाली की धुनें। तबला और सितार पर अमीर खुसरो के भजन आज भी गाए जाते हैं। बूअली सीना की आविष्कृत शहनाई आज भी बिस्मिल्लाह खां के होंठों से हिंदू-मुसलमान दोस्तों को मस्त बना देती है। इसी प्रकार अकबर के ज़माने से चित्रकला भी मिश्रित हिंदुस्तानी सभ्यता का द्योतक बनती गयी। भारतीय यथार्थ और ईरानी मृदुलता के सुंदर सम्मिश्रण ने एक नई चित्रकला को जन्म दिया। अजन्ता और दिल्ली स्कूल की चित्रकला में कोई समानता नहीं मिलेगी लेकिन दिल्ली, जयपुर और कांगड़े के चित्रों में समानता स्पष्ट दिखायी देती है। इस कला को मुग़लों का संरक्षण भी प्राप्त रहा और राजपूताना और तंजौर के हिंदू राजाओं की एकता और सद्भाव जो इस कला को अकबर के दौर में प्राप्त हो गया था वह बराबर इन शाहकारों में पाया जाता है।

इस अध्याय में हमने कुछ गिनती की नज़में संगीत और चित्रकला पर दी हैं जिनमें से कुछ खास महत्व रखती हैं। आरंभ में नृत्य पर कुछ नज़में हैं। नृत्यकला हिंदुस्तान की प्राचीन कलाओं में से है और हिंदुस्तान के राष्ट्रीय और आध्यात्मिक जीवन में इसका उच्च स्थान रहा है। शास्त्रीय नृत्य में भरतनाट्यम सबसे अहम माना जाता है। इसे दूसरे नृत्यों का उद्गम भी कहा जा सकता है। इस नृत्य में नर्तक अंगों के हाव-भाव से कोई-न-कोई कहानी कहता है। दूसरा मुख्य नृत्य कथकली है जो केरल का महत्वपूर्ण लोकनृत्य है। इस नृत्य में आर्य और द्रविड़ प्रभाव मिले-जुले हैं। मणिपुरी नृत्य मणिपुर (असम) का अहमतरिन नृत्य है और यह शिव और पार्वती का नृत्य समझा जाता है। कथक का विषय राधा और कृष्ण का अमर प्रेम है। यह नृत्य उत्तर भारत, खासतौर पर अवध के इलाके में बहुत लोकप्रिय हुआ। मीर हसन की मस्नवी 'सहरुलबयान' से मुजरे के जो दो टुकड़े लिये गये हैं उनमें कथक नृत्य की ही झलक है। अवध में नृत्य और संगीत की महफिलें आम हो चुकी थीं और वेश्या समाज का एक अभिन्न अंग बन गयी थीं। ये वेश्यायें नाच और गाने की कला में निपुण होती थीं और उनके पेशे के लिए यह महारत ज़रूरी भी थी क्योंकि समाज की मानसिक चेतना संगीत के क्षेत्र में बहुत सजग हो गयी थी। अतएव मुजरा स्वयं एक कला का

रूप धारण कर गया था। मीर हसन की 'सहरुलबयान' से जो मुजरे के दृश्य दिये गये हैं उनसे पता चलता है कि स्वयं शाइर राग-रागिनियों और नृत्य के विभिन्न पहलुओं का संपूर्ण ज्ञान रखता है। रक्स पर एक नज़म 'जोश' की और एक नज़म 'वज्द' की शामिल है जिसमें रक्स की तकनीक पर से बहस न करते हुए उसके जमालियाती तास्सुर को उजागर किया गया है। उदयशंकर पर जो नज़म 'अख़्तर' अंसारी की दी गयी है उसे हम उदयशंकर के कमाल का एतिराफ़ ही कह सकते हैं। उदयशंकर ने जिस प्रकार हिंदुस्तानी शास्त्रीय नृत्य में खोज करके वर्तमान काल के विषयों और मांगों को समोने का प्रयत्न किया है वह कम महत्व नहीं रखता। संगीत के सिलसिले में इस दौर के दो मुख्य कलाकारों पर एक-दो नज़में हैं। रसूलनबाई और लता मंगेशकर की कला और आवाज़ संगीत की दुनिया में अमर कहे जाने योग्य है। संगीत-कला पर हमने चार नज़में मुख्तार सिद्दीकी की दी हैं। 'सरगम', 'खयाल दरबारी', 'खयाल एमन कल्याण' और 'केदारा का एक रूप'। शास्त्रीय संगीत दिन-रात की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न बंदिशों और विभिन्न प्रभावों का कायल है। इसलिए हर राग-रागिनी अपने उचित समय पर ही वह असर पैदा करती है जिसके लिए उसकी रचना की गयी है। यह तास्सुर 'रस' कहलाता है। उसे इस राग-विशेष का बुनियादी भाव या खयाल समझना चाहिए। मुख्तार सिद्दीकी ने अपनी इन नज़मों में ऐसे ही बोलों का सहारा लिया है जो राग के बुनियादी तास्सुर और उसकी विषयवस्तु की बेहतर-से-बेहतर तर्जुमानी कर सकें। खयाल जिस तरह गाया जाता है और जिस तरकीब और क्रम का उसमें ध्यान रखा जाता है, यानी आलाप, फिर अस्थायी, फिर अंतरा, इसके बाद राग के समस्त विस्तार का निरीक्षण और फिर वापसी या अभोग का मरहला। मुख्तार सिद्दीकी ने इस क्रम को ध्यान में रखा है। हम कह सकते हैं कि हमारे शास्त्रीय संगीत की आत्मा और उसके शरीर, रस और वर्णन को पहली बार उर्दू शे'र में इस तरह ढाला गया है। इन नज़मों के अलावा और भी कुछ नज़में हैं जैसे 'इकतारे का जादू' या 'ढोल का गीत' जो तास्सुराती रंग लिये हुए हैं। अंत में इसमें हमने सिर्फ़ एक नज़म चित्रकला बल्कि आज के सुप्रसिद्ध कलाकार हुसैन पर शामिल की है। हुसैन हमारे राष्ट्रीय चित्रकारों की प्रथम श्रेणी में गिने जाते हैं। वह अपने कैनवस पर नग्न तत्वों की सर्जना बाह्य आकृतियों की सहायता से करते हैं। उनका कैनवस यथार्थ और काल्पनिक कृतियों का सुंदर मिश्रण होता है। अनीस फ़ारूकी ने उनके आर्ट पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि - वह रहस्य, उपमा और रूपक को रूमानी अंदाज़ में यथार्थ रूप देने में पूरी कुशलता रखते हैं। हुसैन अपने कलात्मक प्रयोगों में सदैव व्यस्त रहते हैं। सन् 1947 ई. में हुसैन ने हिंदुस्तानी रीति-रिवाज़, सभ्यता और संस्कृति, विशेषतः यहां के जीवन की झलकियों को तैलचित्रों में नए ढंग से पेश किया था।

...क्रमशः जारी

हिन्दोस्तां हमारा भाग-1 की भूमिका से साभार

## मध्ययुगीन सांस्कृतिक अभ्युत्थान तथा मानव-सामंजस्य की प्रक्रियाएं

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

### आर्थिक सामाजिक दशा

हम पहले ही कह चुके हैं कि युद्ध - व्यवसायी वर्ग या जाति के लिए लगभग अनिवार्य होता है। यदि झगड़ने का कारण न मिले तो खोज लिया जाता है। इसलिए, राज्य-विस्तार करते जाना, यानी कि वैमनस्य, शत्रुत्व और संघर्ष में लगे रहना, लगभग एक प्राकृतिक नियम हो जाता है। यह विशेषकर तब होता है जबकि राज्यों का संचालन युद्ध-व्यवसायी जाति या वर्ग ही कर रहा हो और शेष जनता सो रही हो।

लूट से सेना का खर्च चलाने की प्रवृत्ति प्राचीनतम काल से लेकर हूण, मंगोल, तुर्क और मराठों तक में विद्यमान रही। ऐसे समय, धन के लालच से साहसी वीर लोग सेना में भरती हो जाते। दिल्ली सल्तनत के युग में, स्वतंत्र राज्यों को जीतकर लूट द्वारा सेना का खर्च चलाने की प्रवृत्ति खूब ही थी। फलतः, अफगान सल्तनत ने आर्थिक व्यवस्था के सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

किंतु साथ ही उसने अर्थव्यवस्था में कोई हस्तक्षेप भी नहीं किया। व्यवसायी और व्यापारी अपने संगठनों में संगठित थे। कारीगर लोग भी अपना काम करते जा रहे थे। हां, एक बात हुई। और, वह यह कि सरदारों और सैनिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, वस्त्र, शस्त्र आदि की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए, दिल्ली के सुल्तानों ने अपने यहां बहुत-से कारखाने खुलवाये। राज्य द्वारा स्थापित रेशमी कपड़े के कारखाने में 4000 जुलाहे काम करते थे। ये रेशमी वस्त्र श्रीमानों द्वारा उपयोग में लाये जाते। सूती व ऊनी कपड़ों के लिए सरकारी कारखाने थे। और भी कई वस्तुएं सरकारी कारखानों में तैयार की जाती थीं। किंतु, इन कारखानों से देश की अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। शिल्पी-श्रेणियों के साथ में वस्तुओं के उत्पादन का व्यवसाय था और वे गांवों और नगरों में जनता की आवश्यकता की पूर्ति के कार्य अपनी प्राचीन परिपाटी के अनुसार करते जाते थे।

निरंतर युद्धों के कारण, खेतिहर, शांति और निश्चिंतता के साथ काम नहीं कर पाता था। देश में अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी। इसका सबसे बुरा प्रभाव खेती पर पड़ा। फलतः जलालुद्दीन

खिलजी और मुहम्मद तुग़लक़ के ज़माने में बड़े-बड़े अकाल पड़े। सबसे ज़्यादा नुकसान गरीब खेतिहर जनता को होता। दिल्ली के आस-पास एक भयानक अकाल, सन् 1340 में, पागल कहे जाने वाले सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के ज़माने में पड़ा। सात बरस तक पानी नहीं बरसा। 'पागल' सुल्तान ने दिल्लीवासियों के लिए 6 महीने तक के अनाज का इंतज़ाम किया। जब देखा कि अकाल कम नहीं होता है तो उसने अयोध्या के समीपवर्ती क्षेत्र में कोरा नामक स्थान पर एक नये नगर का निर्माण करके वहां दिल्लीवासियों को छः बरस तक रक्खा।

ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि साम्राज्य तो बन गया था किंतु, आवागमन के साधनों का विकास नहीं किया गया था। सड़कें नहीं थीं, ऐसी व्यवस्था नहीं थी कि जिससे सुरक्षापूर्वक यात्रा और व्यापार हो सके। मंदिर और मस्जिद भले ही बन जाएं, सड़कें नहीं बन सकती थीं।

फिर भी, व्यापार तो होता ही था-विशेषकर उन वस्तुओं का जो सरदारों और अमीरों के काम आतीं, या विदेशों में पहुंचायी जाकर महंगी बेची जा सकती थीं। चीन, मलाया, अरब और यूरोप से जल-मार्ग द्वारा खूब व्यापार होता। कालीकट और भड़ौच के बंदरगाह प्रमुख थे। स्थल-मार्ग द्वारा मध्य एशिया, ईरान और भूटान से संबंध था। विदेशों में मसाले, कपड़ा, अनाज और अफीम जाती थी। विदेशों से बदले में सोना आता।

### सामाजिक दशा

हिंदुओं की सामाजिक दशा गिरी हुई थी। राज्य में वे निचली श्रेणी के नागरिक थे। सुल्तान के दरबार में उनके साथ तुच्छता का बरताव होता। अलाउद्दीन खिलजी ने तो उन्हें आर्थिक दृष्टि से हीन करने के लिए तरह-तरह के टैक्स लगाये थे।

दिल्ली सल्तनत में दास-प्रथा बड़े ज़ोरों पर थी। ये दास विदेशों से मंगाये जाते थे। इनमें कुछ भारतीय भी होते। अमीरों और सरदारों को दास रखने का शौक था। दासों से अनेक प्रकार की सेवाएं ली जातीं- सैनिक सेवा, राज सेवा और वैयक्तिक सेवा। किंतु जिन दासों में विशेष प्रतिभा या योग्यता होती उन्हें दासता से मुक्त करके ऊंचे पदों पर नियुक्त कर दिया जाता

था। युद्ध में पराजित सैनिकों को भी दास बनाया जाता। स्त्रियों को दासी बनाया जाता। सुंदर दासियों का मूल्य बहुत अधिक था।

मुसलमानों की इस दास प्रथा का अनुकरण हिंदू सामन्तों ने भी किया। राजस्थान के रजवाड़ों के यहां यह प्रथा आज भी देखी जा सकती है। आज भी यहां के बड़े-बड़े ठिकानेदारों, रजवाड़ों और राजाओं के यहां स्त्रियां दहेज में दी जाती हैं। हिंदू समाज में आज जो बहुत-सी कुरीतियां हैं उनका स्रोत भी वही पूर्व-मध्य युग का काल है। पर्दा प्रथा का अनुकरण हिंदुओं ने किया। साथ ही, जीवन की सामान्य असुरक्षा, भविष्य की असुरक्षा को देखते हुए ही बाल-विवाह सर्वत्र प्रचलित हो गया।

### साहित्य

इस युग में सांस्कृतिक क्षेत्र की दो प्रधान घटनाएं हैं : (1) भक्ति आंदोलन का उत्थान और प्रसार; (2) देशी भाषाओं का उत्थान तथा उनमें साहित्य का उत्कर्ष, इन सब बातों का यहां पूरा विवरण देना मुश्किल है।

साहित्य की श्रीवृद्धि तीन केन्द्रों से हुई। एक केन्द्र-राज दरबार, चाहे मुस्लिम हो चाहे हिन्दू; दो-जन-साधारण; तीन- इन दोनों से पृथक् और स्वतंत्र व्यक्ति।

### राज-सभाओं में साहित्यिक उत्कर्ष

राज-सभाओं में साहित्यिकों तथा अन्य विद्वानों का आसन रहना, एशियायी संस्कृति की विशेषता है। चाहे ईरान की राजसभा हो या बगदाद की, राज-सभा की शोभा, सरदारों और सेनाध्यक्षों के अतिरिक्त, विद्वानों और कवियों द्वारा ही पूरी होती थी हमारे भारत में भी अति प्राचीनकाल से यही पद्धति चली आयी। कइयों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि 'विदेशी' भारत विजेता मुहम्मद गोरी के दरबार में (तथा युद्ध में भी), हिंदी के प्रकाण्ड पंडित डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, केशवराव नामक एक भाषा का (हिन्दी का) कवि था। संभवतः वह भाट होगा। अजमेर तथा दिल्ली प्रसिद्ध, राजा पृथ्वीराज चौहान के दरबार में भी चन्द बरदाई नामक एक कवि था, जिसने पृथ्वीराज के प्रेम, शृंगार, वीरता, उद्यान, प्रासाद, अभियान आदि का अपने महाकाव्य **पृथ्वीराज रासो** में वर्णन किया। पृथ्वीराज के दरबार में भी हिन्दी कवि थे और उसके शत्रु मुहम्मद गोरी के दरबार में भी हिन्दी कवि थे। आज यह विचित्र बात मालूम होती है, इसलिए कि आज हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। किंतु यदि हम ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन करें तो पायेंगे कि अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा बलूच तक का पूरा प्रदेश भारतीय संस्कृति का अंग रहा आया। कनिष्क अपने सिक्कों पर 'शाहानुशाहि' अर्थात् शहंशाह लिखता था, जो संस्कृत की विभक्ति के साथ, प्राचीन

ईरानी का शब्द है। उसी प्रकार, महमूद गज़नवी ने, तथा उसके आगे के कुछ उत्तराधिकारियों ने, अपने सिक्कों पर, इस्लामी संदेश के संस्कृत अनुवाद को अंकित किया है। मुहम्मद गज़नवी के दरबार में बहुत-से भारतीय विद्वान थे। गज़नी तथा सुदूर उत्तर-पश्चिम के अन्य प्रदेशों में कभी ब्राह्मणों का भी राज रहा आया, यद्यपि वहां बहुतों ने इस्लाम कबूल कर लिया, किंतु ऐसे भी कुछ होंगे, जिन्होंने वैसा नहीं किया। जिन्होंने धर्म-परिवर्तन नहीं किया उन्होंने नये बने मुसलमानों के राजवंशों में चाकरी की, क्योंकि उनका पूर्वतर, पारिवारिक संबंध एकदम नहीं भुलाया जा सकता था। संभवतः, मुहम्मद गोरी के दरबार में ऐसे ही स्थानीय परिवार का कोई प्राकृत-अपभ्रंश कवि केशवराय रहा होगा।

असल में ये सब चारण कवि थे। किन्हीं में कवित्व अधिक था, किन्हीं में अल्प। हिन्दी के पूर्व-मध्य काल में इस प्रकार का चारण साहित्य बहुत लिखा गया है। सभी ने वर्णनात्मक काव्य लिखे। पृथ्वीराज के समकालीन जयचन्द के दरबार में भी विद्याधर नामक एक कवि था, जिसने अपने ग्रंथ में जयचन्द के पराक्रमों की बड़ी प्रशंसा की थी। यह ग्रंथ अब नहीं मिलता। **पृथ्वीराज रासो** इतना लोकप्रिय हुआ कि आगे की सदियों में उसके प्रेमियों ने उसमें अपनी ओर से बहुत कुछ मिला दिया। फलतः आजकल जो ग्रंथ प्राप्त है, उसका मूल पाठ ठीक नहीं माना जाता। जगनिक कवि कृत **आल्ह खण्ड** प्रबंध काव्य और गीत के बीच की बड़ी जोरदार रचना है। किंतु, आजकल जो पाठ प्राप्त होता है, वह उसका मौलिक रूप नहीं है। लोगों ने तो उसकी भाषा तक को परिवर्तित किया है। शारंगधर कवि कृत **हम्मीर रासो** एक प्रसिद्ध वीर-काव्य है। हमीर तथा अलाउद्दीन खिलजी के बीच हुए युद्ध का उसमें ओजस्वी वर्णन है। उसी प्रकार वीर-गीत के रूप में **बीसलदेव रासो** भी उल्लेखनीय है।

राजसभा के साहित्यकारों में, विद्यापति का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। वे मिथिला के राजकवि थे, उन्होंने मैथिल भाषा में सुंदर शृंगार पूर्ण रचनाएं कीं। मिथिला की राज-सभा संस्कृत-साहित्य को भी खूब प्रोत्साहन देती थी। वाचस्पति मिश्र सरीखे अनेक प्रकांड ग्रंथकारों ने संस्कृत में रचना की। उस दरबार में संस्कृत को विशेष प्रश्रय मिला।

मुस्लिम दरबार में खिलजी और तुगलक काल में अमीर खुसरो जैसे बहुमुखी प्रतिभा वाले लेखक विद्यमान थे। फारसी को उन्होंने विशेष प्रश्रय दिया। वे भारतीय ज्ञान-विज्ञान से, दर्शन और तर्कशास्त्र से, चिकित्साशास्त्र और ज्योतिर्विद्या से विशेष प्रभावित थे। मुहम्मद तुगलक स्वयं प्रकांड विद्वान होने के

अतिरिक्त बहुत जिज्ञासु व्यक्ति था। वह अपने युग का सचमुच श्रेष्ठ विद्वान तथा मनीषी था। उसके दरबार में, अनेक दार्शनिक तथा विज्ञान-संबंधी विषयों पर, उपस्थित भारतीय तथा विदेशी विद्वानों के बीच बहस हो जाती। इस वाद-विवाद में मुहम्मद तुग़लक़ (जिसे सब लोग पागल कहते थे) स्वयं भाग लिया करता था।

उसके उत्तराधिकारी फ़ीरोज तुग़लक़ ने भारतीय दर्शन, ज्योतिर्विद्या तथा अन्य विषयों से संबंधित ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद कराया। सिकंदर लोदी के आश्रय में, भारत के आयुर्वेदिक ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद हुआ। ख़िलजी और तुग़लक़ राजसभाओं की शोभा बढ़ाने वाले, बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न और अमीर खुसरो, जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, फ़ारसी के उत्तम विद्वान, संगीतज्ञ तथा ज्ञान-लिप्सु थे। उन्होंने खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों में उत्तम रचनाएं की। उनकी पहेलियां तथा मुकरियां बहुत प्रसिद्ध हैं। यद्यपि, स्वभावतः वे मुसलमानों के पक्षपाती थे, किंतु हिंदू ज्ञान, संस्कृति, हिंदी भाषा, हिन्दू दर्शन, हिंदू संगीत तथा भारत के प्राकृतिक सौंदर्य के वे परम अनुरागी तथा प्रशंसक थे। उनकी ब्रजभाषा बहुत ही ललित है।

जौनपुर का स्वतंत्र प्रांतीय मुस्लिम राज्य विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। वहां उनका बहुत सम्मान होता था। जौनपुर (फ़ारसी के बजाय) अरबी पांडित्य, इस्लामिक दर्शन तथा साहित्य का प्रधान केंद्र था। वहां के नरेश इब्राहिम शर्की का नाम इस संबंध में उल्लेखनीय है।

किंतु उन दिनों बंगाल का मुस्लिम दरबार सचमुच अपनी निराली विशेषता रखता था। उसने बंगला भाषा को प्रधानता दी, विद्वानों को आश्रय दिया। बंगाल के सुल्तानों ने संस्कृत के रामायण और महाभारत को बंगला भाषा में अनुवादित करने के लिए विद्वानों को माननीय पदों पर नियुक्त किया। गौड़, जो बंगाल का एक भाग है, उसके सुल्तान नसरत शाह ने बंगला में महाभारत का अनुवाद कराया। बंगाल के प्रसिद्ध कवि कृत्तिवास को बंगाल के सुल्तानों का आश्रय प्राप्त था। सुल्तान हुसैन शाह का आश्रय पाकर, मलधर बसु ने गीत का अनुवाद बंगला में किया। बंगाल की मुस्लिम राजसभा ने बंगला के साहित्यिक उत्कर्ष के लिए बहुत कुछ किया।

दक्षिण में विजय नगर के राजा कृष्ण देवराय ने तेलुगु साहित्य के स्वर्ण-युग का उद्घाटन किया। राज्य के प्रोत्साहन के फलस्वरूप तेलुगु साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ।

राजसभाओं द्वारा एक नयी भाषा को भी प्रोत्साहन दिया गया। उर्दू खड़ी बोली का ही मुस्लिम संस्करण है। दकनी हिन्दी के नाम से (शुरु में यही नाम था, वह खड़ी बोली हिन्दी भी थी

और उर्दू भी) वह दक्षिण के मुस्लिम राज्यों द्वारा प्रोत्साहित की गयी। जब वह वहां फली-फूली तो दक्षिण भारत की राजसभाओं से साहित्यिक रूप धारण करके उत्तर भारत की राजसभाओं में आयी।

राजा और सुल्तान अपने दरबारों में प्रकांड पंडितों और कवियों को पाकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते थे। किंतु साहित्यिक उत्कर्ष का मूल केंद्र वहां न होकर, जन-साधारण थे। जन-साधारण प्रतिभाशाली पुत्रों को उत्पन्न कर रहे थे। वे पढ़े-लिखे, अक्खड़ और गंवार, दीन और दयनीय समझी जाने वाली जनता के जीवन-में आंदोलन मचा हुआ था। भक्ति की धारा उसके अन्तःकरण में प्रवाहित हो रही थी। साधु, संतों और फकीरों के उपदेशों से और पहुंचे हुए ज्ञानी पुरुषों के सत्संग से उसके हृदय में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा बह रही थी। उसके प्रतिभासंपन्न पुत्रों में कबीर और नामदेव, रैदास और पलटू, नानक और दादू, तुकाराम और नरसी मेहता, चंडीदास और ज्ञानेश्वर जैसे महान् संतों और कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। मराठी के ज्ञानेश्वर भारतवर्ष के अत्यंत प्रतिभाशाली कवियों में से थे, जिनकी रसार्द्र वाणी ने ज्ञान और भक्ति, योग और प्रेम की अजस्र धारा विशाल जन-समुदायों में प्रवाहित की। तुकाराम के अभंग सुन-सुनकर, आज भी महाराष्ट्र के जन-साधारण अपने हृदय को पवित्र करते हैं और मानव-प्रेम में डूब जाते हैं। नरसी मेहता की वाणी आज भी गुजरात की झोपड़ियों में गूंज रही है। ऐसा कौन भारतवासी है जिसने मीरा के पदों को सुनकर अपने हृदय में प्रेम की पीड़ा का अनुभव न किया हो। यद्यपि वह राजरानी थी, किंतु, साधारण जनों जैसी ही उन्मुक्त उसकी वाणी थी। 'गिरिधर के आगे नाचूंगी' वाली यह मीरा युग-युगों तक भारतीय जनों के हृदय को प्रेम से आप्लावित करती रहेगी। चंडीदास के विरह-गीतों को सुनकर, भक्ति-गीतों को सुनकर आज भी बंगाली जनों की पलकें भींग जाती हैं। हृदय को धोकर, भिगोकर, डुबोकर वह उठने वाली यह भक्ति-धारा शायद ही किसी देश में इस प्रकार प्रवाहित हुई हो। सूरदास, तुलसीदास, रसखान, जायसी उस काल के ज्वलन्त नक्षत्र हैं।

कबीर और नानक मानव-समानता के प्रचारक, शील और स्नेह पुरस्कर्ता तो थे ही, उन्होंने मानव-मात्र के लिए सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा करनी चाही-वह धर्म नहीं जो किताबों और ग्रंथों में बंधा रहता है, जो रूढ़ियों और रिवाजों में फंस जाता है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच, गर्व और दंभ, पाखंड और द्वेष की दीवालें खड़ी करके मानवता को अलग-अलग टुकड़ों में काटकर तितर-बितर कर देता है। वरन् उन्होंने उस धर्म को प्रतिष्ठित किया जो मानवमात्र के अन्तःकरण में मानव-गुण के रूप में विराजमान है,

जो हृदय का गुण और आत्मा का स्वभाव है, जिसके द्वारा मानवता अखंड हो जाती है, जनता एक हो जाती है। और अन्तःकरण पर प्रेम और सद्भावना में आलिंगन पड़ जाते हैं।

कबीर का कवित्व केवल साहित्यिक महत्व ही नहीं, वरन् ऐतिहासिक महत्व रखता है। अक्खड़, वेदरकार, बेलौस, बेमुरव्वत कबीर में मानव-स्नेह का अजस्र निर्झर प्रवाहित होता था। उनके दोहे हम में प्राण-शक्ति का संचार करते हैं। नानक की वाणी ईश्वरीय प्रेरणा से युक्त है, उसमें ज्ञान का प्रकाश तथा भावना का गीलापन है। रैदास के नम्र हृदय में सारा विश्व आर्द्र होकर विराजमान था। सेना नाई और पलटू, ईश्वरीय ज्योति हृदय में धारण करके लगभग मसीहा थे; किंतु न उनका बाना मसीहाई था, न उनका रहना। अगर पलटू सामने आकर खड़े हो जायें तो शायद वे इतने दीन होंगे कि हम अपने बरामदे से उन्हें निकाल देंगे।

इसीलिए उन दिनों यह ख्याल था कि नारायण (ईश्वर, भगवान) स्वयं दीन-जन का रूप धारण करके घूमते फिरते हैं। पता नहीं, बाहर नंगे पांव घूमते हुए इन दीन जनों में कौन सचमुच भगवान हो।

दिल्ली सल्तनत की राजनैतिक घटनाओं को देख-देख, बहुतों का हृदय उदास हो जाता है। किंतु भारतीय प्रतिभा ने यदि राजनीति को इतना महत्व दिया होता तो वैसी घटनाएं कभी हो ही न पातीं। किंतु, यदि भारतीय धर्मों को इतने बड़े पैमाने पर चुनौती न मिल पाती तो शायद उस युग का वह अजस्र उत्थान, जिसके सामने हमारा आधुनिक युग फीका है, हमारे सामने कभी न आ पाता, भारतीय धर्मों में हृदय की आर्द्रता, मानव-मात्र के प्रति उदार प्रेम और जीवन-ज्ञान का आलोक न हो पाता। उससे रूढ़ियों और भेदोपभेदों में बन्दी मानव, ईश्वर के सामने आकर, अपने भेदों को भूल गया। इस्लाम का भारतीयकरण हो गया। हिंदू इस्लाम के आलोक में नहा उठा।

निःसन्देह राजाओं की सभाओं में पनपने वाले साहित्य में पांडित्य की जड़ता, अलंकरण-प्रियता और विलासाकुल वृत्ति है। इसके विपरीत जन-साधारण की झोपड़ियों में गूंजने वाले गीतों की भावना छंद तोड़कर उमड़ उठती है। बात ठोस है; ठिकाने की है, सीधी चोट करती है। उसमें एक उमड़ती हुई पुकार है, एक झगड़ता हुआ आक्रोश है और रगड़ती हुई चुनौती है। उसमें बालक और स्त्रियों की करुणा-कातर भावना है, और नम्र प्रेम

है। यदि आधुनिक युग में, न सही ईश्वर-भक्ति, किंतु थोड़ा-सा भी हृदय-गुण आ सके तो हमारा जीवन अधिक आह्लादमय, सरस और आर्द्र हो उठे!

उन दिनों संगीत, चित्रकला, भवन-निर्माण-कला नयी ऊंचाइयों छूने लगीं। बड़े-बड़े किलों की मेहराबों में एक नयी सुकुमारता आ गयी। नये राग चलाये गये। भव्यता और कोमलता इन दोनों गुणों से संयुक्त होने लगी हमारी कला। मुसलमानों ने इन कलाओं को आत्मीय बनाकर उनमें नया रस डाला। क्या संगीत को हिंदू संगीत और मुस्लिम संगीत कहा जा सकता है? कला के क्षेत्र में इस प्रकार का भेद करना असंभव इसलिए हो उठता है कि कला मानव-हृदय से उत्पन्न होती है और कलाओं में प्रकट मुस्कानों और आंसुओं को हम नहीं कह सकते कि ये हिन्दू मुस्कान हैं वे मुस्लिम मुस्कान, ये हिंदू आंसू हैं, वे मुस्लिम आंसू! क्यों? इसलिए कि ये कलाएं हिंदू और मुस्लिम सामंतों ने नहीं बनायीं। सामान्य जनता में से उत्पन्न होने वाले कलाकारों और कारीगरों ने उन्हें प्रसूत किया। चूंकि वे अपनी जनता के सच्चे बेटे थे, इसलिए उनके हृदय में भी वही आह्लादकारिणी मानव-हृदय की एकता और अभिन्नता वर्तमान थी। क्या उस काल की यह देन आज की कला से किसी कदर भी कम थी? वह आज की कला से अधिक उच्च और स्थायी थी, इसलिए कि वह समय के हथौड़ों से जांची जा चुकी है, खरी उतरी है।

मध्य और पश्चिम एशिया को सुशोभित करने वाले गुम्बज और मीनार, भारतीय कलाकारों के हाथ में पड़कर निःसंग भूरा रूखापन भूल गये। इनमें एक नया लालित्य और सौकुमार्य आ गया-किंतु मजबूती वैसी ही बनी रही। हिंदू और मुस्लिम प्रतिभा के योग से भवन-निर्माण की एक नयी शैली का ही विकास हुआ।

मेहराबें हृदय की कोमलता प्रकट करने लगीं। बागों में लगाये जाने वाले तरह-तरह के झरने तथा दीवालें पर अंकित या खुदी हुई सुनहरी फूल-पत्तियां-हृदय के उत्साह और आनंद को, उत्फुल्ल सौंदर्य-भावना को और विशालता की संवेदना को, एक साथ प्रकट करने लगीं।

उस काल की ये महान् उपलब्धियां अन्य युगों से किसी भी हालत में कम नहीं हैं।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए